जीवन-पथ

['पथेर-स्मृति' नामक एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी, प्राणप्रद
और सजीव जीवन-चित्र का सरल-सरस
छायानुवाद ।]

अनुवादक—

श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

प्रकाशक—

उत्थान ग्रन्थमाला कार्यालय,
बाज़ार सीताराम,
दिल्ली ।

पहली बार
२०००

१९३३ ई०

मूल्य
आठ आना

परिचय

मैं इस उपन्यास पर मुग्ध हूँ—इतना कि इसका अनुवाद लेकर अपने पाठकों की सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। बँगला से मेरा बाल्य-परिचय है। जब बहुत बच्चा था, दो-तीन बँगला पुस्तकों का मेरा अनुवाद विभिन्न प्रकाशकों ने प्रकाशित किया था। इधर दस साल से, जब से मैं स्वयं थोड़ा-बहुत लिखने लगा हूँ, मैंने किसी भाषा से, कुछ भी अनुवाद नहीं किया है। प्रायः पाँच वर्ष से तो अन्य भाषाओं में कुछ पढ़ा भी नहीं है, क्योंकि कार्य-कोलाहलमय वर्तमान जीवन में पढ़ने का अधिक अवकाश कोशिश करने पर भी नहीं मिल पाता।

यह पुस्तक सहसा ही मेरे हाथ लगी। यात्रा में था, इसलिए पढ़ भी गया। पढ़कर इतना मुग्ध हुआ कि इसे अनुवाद करने का लोभ न छोड़ सका। अवकाश के अनुसार धीरे-धीरे इसका अनुवाद प्रारम्भ कर दिया। आज कई महीनों के बाद यह तैयार होकर छापे की कलों के नीचे जा रही है।

इस पुस्तक को उपन्यास न कहकर मैं जीवन का एक सीधा-सादा, सुख-दुख और हास्य-क्रन्दन से भरा हुआ एक सजीव चित्र कहूँ तो ज्यादा उपयुक्त होगा। मूल लेखक ने भी यही कहा है। इस पुस्तक की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्वाभाविकता अपनी सीमा तक विकसित है। जैसे लेखक एक चित्रकार है, जो जीवन-नाट्यशाला में बैठकर क्रम से जीवन के दृश्य देखता और उसकी तस्वीर खींचता जाता है। ये चित्र इतने मनोहर, इतने हृदयग्राही, मर्मभेदी और प्रभावशाली

है कि कोई भी सहृदय-हृदय इसे पढ़कर अप्रसन्न हुए बिना न रहेगा। जीवन का चित्र उसकी आँखों के सामने सजीव हो उठेगा और वह इस विराट् सृष्टि के चित्रपट को देखकर अवाक् हो जायगा।

श्रीयुत असमञ्ज मुखोपाध्याय इस ग्रन्थ के मूल लेखक हैं और श्रीयुत हरनामदास जी गुप्त इस अनुवाद-ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहे हैं। मूल लेखक एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं और उनके इस उपन्यास को पढ़ने वाले उनके प्रति अपने हृदय का सम्मान देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। श्रीयुत हरनामदास जी गुप्त एक साहित्य-प्रेमी सहृदय सज्जन हैं और उसी साहित्यानुराग से प्रेरित होकर यह ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं।

यह पुस्तक मूल ग्रन्थ का अविकल अनुवाद नहीं है। बहुत से स्थल अनावश्यक समझकर मैंने छोड़ दिए हैं और कहीं-कहीं दो-एक पैराग्राफ़ अपनी ओर से बढ़ा दिए हैं! ऐसा करते समय पुस्तक की, भाव और सौन्दर्य-रक्षा का मैंने विशेष ध्यान रखा है। मेरा विश्वास है, ऐसा करने से इस पुस्तक का सौन्दर्य मूल से कुछ बढ़ गया है। मूल और अनुवाद, दोनों ही दृष्टियों से मैं हिन्दी को एक अच्छी चीज़ भेंट कर रहा हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है।

लेखक और प्रकाशक, मैं दोनों ही का कृतज्ञ हूँ और उनके प्रति अपने अन्तर का धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ। मेरी आशा है, इस पुस्तक को पढ़ने वाले भी इनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करेंगे।

ओझाबन्धु आश्रम,
इलाहाबाद, १-७-३१

विनीत—
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

जीवन-पथ

[१]

उपन्यास का नाम देकर आज जो-कुछ कहने जा रहा हूँ, वह गत जीवन की दो-एक बिल्कुल तुच्छ और साधारण घटनाओं की स्मृति-मात्र है। यह स्मृति भी अत्यन्त मलिन और विश्रृङ्खल है। आज, दिन के अन्त में, जीवन-पथ की सीमा पर आकर, पीछे फिरकर खड़े होने पर, बीते हुए दिनों की कितनी बातें—कितनी व्यथा की, कितनी सुख की और कितनी दुःख की स्मृतियाँ एक-के-बाद-एक आकर मन के पर्दे पर फूट उठती हैं और मन को चञ्चल बनाकर अदृश्य हो जाती हैं, इसका कुछ अन्त नहीं है—हिसाब भी नहीं है। इसी से उपन्यास की चित्रण-चातुरी और धाराबाहिकता इसमें न होने पर भी, जीवन-यात्रा-पथ की यह जो स्मृति है— इसका जितना हो सके, उतने का ही हिसाब लिखा-पट के अन्दर बन्द कर रखने के लिए मेरा यह प्रयत्न है। लेकिन यह भी समझता हूँ कि इस कहानी के साथ बाहर के किसी का लगाव नहीं है, यह एकदम व्यक्तिगत है—बिल्कुल मेरी ही।

और इसी को कह डालने के लिए क्यों यह आयोजन है और मन में ही क्यों इतना आग्रह है, यह, मन के जो सृष्टिकर्ता हैं, उनके सिवा और कौन बता सकेगा ?

अतीत की यह जो कहानी है,यह जैसी साधारण है, वैसी ही पुरानी भी है, एकदम उस जमाने की बात है; लेकिन वह जमाना ही कितने दिनों का है ? विक्रमादित्य का राजत्व भी नहीं,बख्तियार खिलजी का अमल भी नहीं और वारेन हेस्टिङ्ग का समय भी नहीं, ज्यादा-से-ज्यादा चालीस वर्ष पहले की बात है। मेरी उम्र उस समय दस या बारह साल की होगी।…लेकिन इन थोड़े ही दिनों में कैसा परिवर्तन हो गया है ! उस समय यह कालीघाट ठीक एक गाँव की तरह था। इस समय इस कालीघाट का जो हिस्सा तस्वीर की तरह सुन्दर-सुन्दर और तरह-तरह के आकार तथा गठनवाले मकानों से सज्जित होकर शहरवालों के लिए सबसे ज्यादा लोभ-नीय हो गया है, वहीं 'लेक रोड' मुहल्ला पहले धान का खेत था। पूस के महीने में 'बौनी' बाँधने के लिए हम लोग दल-के-दल जाकर इन्हीं खेतों में से धान-सहित पौधे उखाड़ लाकर घर भर दिया करते थे।

उस समय जो कई घर यहाँ थे, उनके सभी लोग एक-दूसरे को पहचानते थे। उनके बाशिन्दों को उँगलियों पर गिना जा सकता था। उस समय गैस नहीं था और न ड्रेन तथा पानी के पाइप ही। इतने बड़े-बड़े रास्ते और घाट भी नहीं थे। रङ्ग-बिरङ्गे इतने पार्क-स्क्वायर भी नहीं थे और न हर तरह की गाड़ी-सवारियाँ ही थीं। पुराने रसा रोड के हृदय को चीरकर उस

समय हाल ही में ट्राम की लाइन बैठायी गयी थी। एक छोटी-सी इञ्जन ने, अपनी ही तरह एक छोटी-सी ट्रामगाड़ी को अपने अङ्ग में जोड़कर, धर्मतल्ला तक दौड़-धूप शुरू की थी। उसके आगे-आगे एक घुड़सवार दौड़ता था। वह घोड़ा दौड़ाकर रास्ते के लोगों को हटाता जाता था—लोग कहीं इञ्जिन में दब न जायँ! लेकिन लोग तब भी दबने लगे। बीच-बीच में, एक-दो करके, आदमी घुड़-सवार को धोखा देकर ट्राम के इस इञ्जिन के चक्के के नीचे आ-पड़ने लगे। तब विदेशी कम्पनी ने यह तय किया कि यहाँ इञ्जिन न चलेगी। इञ्जिन खोलकर उसकी जगह जोड़ दिया गया एक जोड़ा घोड़ा। साथ ही गाड़ी की संख्या भी एक कम करके एक ही रहने दी गई; और इञ्जिन को भेज दिया गया खिदिरपुर के रास्तेवाले मैदान में। इस ट्रामको देखने के लिए ही उस समय क़तार-की-क़तार लोगों की न-जाने-कितनी भीड़ हो जाती थी। चालीस साल पहले कालीघाट की ऐसी ही अवस्था थी, लेकिन पुराने जमाने की जो बात कहने जाकर आज ये बातें याद आ रही हैं, अब वही कहूँ।

बचपन की ये बातें उस दिन सहसा अपने दौहित्र को बँगला स्कूल में भरती करने जाने पर याद आयीं, तब,—जब देखा कि नीचे दर्जे के एक छोटे लड़के को उसके घरवाले जबर्दस्ती स्कूल ले आना चाहते हैं और वह किसी तरह स्कूल आना चाहता ही नहीं, शोर-गुल मचाकर आस्मान सर पर उठा रहा है। यह देखते ही चालीस वर्ष के झिलमिल दिनों को भेदकर हमारे मनश्चक्षु के सामने आ पड़ी—हमारे हरीश पण्डित की पाठशाला।

पण्डित जी का फूस-छप्पर से छाया हुआ एक छोटा-सा घर था। उसी के बाहर वाले, दीमक लगे, एक कमरे में हमारी पाठशाला लगती थी। साँझ-सबेरे दोनों वक्त पाठशाला लगने पर भी, सबेरे की पाठशाला ही जरा अच्छी तरह से जम पाती थी।

मैं और मेरे ताऊ के लड़के बिनू दादा, हम दोनों ही एक घर से पाठशाला जाते थे। बिनू दादा यद्यपि उमर में मुझ से दो-ही-एक महीने बड़े थे, लेकिन दुनियादारी और समझ में बहुत बड़े थे—इतने कि छलाँग मारकर भी मैं उन तक न पहुँच पाता था। इसी से प्रायः सभी बातों में मैं उनकी शागिर्दी करता था; मैं उनसे जितना डरता था, उतना ही उन्हें मानता भी था।

माघ का महीना—ठिठुरता हुआ जाड़ा पड़ रहा था। उस समय हम लोगों के पास जूता-मोजा तो था ही नहीं, ऊनके स्वेटर का क़िस्सा भी नहीं सुना था। थी केवल सभी के पास सूत की, एक-एक हाथ लम्बी, छपी हुई, दुलाई। उसी को बदन में लपेट-कर दादी पीछे की ओर गाँठ देकर बाँध देती थीं और कपड़े की झोली में थोड़ी लाई, गुड़ और अनार के दाने भरकर स्कूल के लिए हम लोगों को रवाना कर देती थी। एक काबुली रोज़ शाम को हमारे यहाँ अनार के दाने दे जाया करता था, जैसे दूध का 'रोज' बँधा हुआ था। उसके कन्धे की बड़ी-सी झोली में अखरोट, पिस्ता, बादाम, अँगूर की पिटारी, छिला हुआ बेदाना और खोबानी आदि सभी कुछ रहता था। हमारे घरवाले उससे बीच-बीच में और भी मेवे लिया करते थे, लेकिन यह अनार-दाना तो रोज का

बँधा हुआ था। उस समय कलकत्ते में जो थोड़े से काबुली थे, वे इसी तरह मुहल्ले-मुहल्ले घूम-घूमकर मेवा बेचते फिरते थे। उस समय न तो इतने काबुलियों का ही देश में आविर्भाव हुआ था, न यहाँ उनके सूद का रोज़गार ही चला था। अब उस ज़माने की तरह ताक़तवर, कद्दावर और ऊँचे-लम्बे काबुली भी नहीं दीख पड़ते। अपने काबुली का भयानक चेहरा मुझे आज भी ख़ूब अच्छी तरह याद है। घर के और सब छोटे-छोटे बच्चे भूत समझकर उसके पास भी न फटकते थे। हमलोग कुछ बड़े हो चले थे—धीरे-धीरे उसपर थोड़ा विश्वास भी हो गया था, इसीसे हमलोग उसके पास भी जाते, उसकी लाठी भी पकड़ लेते और दुसल्ले की ओर हाथ दिखाकर कहते—'ख़ाँ साहब, उस हाथी बाबू को अपनी झोली में भरकर ले जाओगे?' किसी-किसी दिन तो पीछे से उसकी पगड़ी खींचकर भाग जाने का दुःसाहस भी हमलोग कर डालते थे। लेकिन, वह इन बातों से नाराज़ होने के बदले ख़ुश ही होता था। लेकिन, इसका यह मतलब नहीं कि उसके गुस्सा ही नहीं था। अगर कभी किसी वजह से नाराज़ हो जाता तो बस मुश्किल ही समझिए। उस समय फिर उसे होश न रहता, वह पागल हाथी की तरह डरावना हो जाता, उसका बदन फूलकर एक से दो हो जाता और उसके मुँह, नाक, आँख से आग की चिनगारियाँ निकलने लगती थीं।

उसका ऐसा गुस्सा, एक दिन हमने देखा था। गुस्से की वजह थे, हमारे बिनू दादा। वह बात फिर कहूँगा। इस समय जो कहरहा था—

जाड़े के दिन और माघ का महीना। पाठशाला जाने को बिल्कुल ही जी न करता था। दादी ने जबर्दस्ती दुलाई बदन में लपेट-बाँधकर, ठेल-ठालकर पाठशाला के लिए रवाना कर दिया। आधे रास्ते तक आकर विनोद दादा लौट खड़े हुए—"मैं तो पाठशाला नहीं जाता।"

मैंने कहा—"नहीं भाई, तब 'पोनशाई' मारेंगे जरूर।"

पण्डित महाशय को हमलोग संक्षेप में 'पोनशाई' कहा करते थे।

विनोद दादा ने जीभ मोड़कर सीटी बजाते हुए कहा—"मार ही लेंगे, और क्या!" उसके बाद स्लेट-पेन्सिल रखनेवाली छोटी थैली में से कोई चीज निकालते हुए कहा—"एक चीज देखोगे?—यह देखो!"

देखा—एक चवन्नी। वह उस समय हमलोगों के लिए अमूल्य चीज थी। क्योंकि और लड़कों की तरह घरवाले एक पैसा भी हमलोगों के हाथ में न देते थे। बीच-बीच में तीज-त्यौहार के दिन दादी सबको एक-एक पैसा देती जरूर थीं, लेकिन एकदम एक चवन्नी पा लेना तो हमलोगों के लिये असम्भव स्वप्न-सा था।

चवन्नी देखकर मैंने अचरज से पूछा—"कहाँ पाया भाई? आधा मुझे दोगे?"

"इह्लि, कैसा मजा है रे!"

"न दोगे?—नहीं? मैं पाठशाल जाता हूँ।"

थोड़ी देर चुपचुप कुछ सोचकर बिनू दादा ने कहा—"अच्छा, दूँगा। किसी से कहोगे तो नहीं? बोलो!"

"न, सचमुच न कहूँगा। कहाँ पाया बताओ?"

"दादी बिछौने पर फैलाकर गिन रही थीं, मैंने हथेली में दुबं-काकर ले लिया, उन्होंने देखा नहीं। चल, कुछ ख़रीद कर खायँ।"

"क्या खाओगे?"

"पाँचकौड़ी बनिया के यहाँ से 'विलायती पानी' पियें,चल।"

"धत्! इस जाड़े में, सबेरे-सबेरे—'विलायती पानी'?"

"हुश्, गधे! उससे क्या? आ।" कहकर बिनू दादा पाँचकौड़ी बनिये की दूकान की ओर चले; अतः मैं भी पाठशाला न जा सका।

दो आने का विलायती पानी (लेमनेड) लेकर दोनों ने पिया। बाक़ी दो आने पैसे रखकर बिनोद दादा ने कहा—"शाम को फिर कुछ खाया जायगा।" लेकिन रास्ते में आते-आते देखा, परी की माँ की दूकान पर गरमागरम फुलौरी-बैंगनी तैयार हो रही हैं। बिनू दादा थमककर खड़े हो गये। बोले-"पैसे रखकर क्या होगा? आ, गरम-गरम बैंगनी खायँ।" दो-दो पैसा करके चार पैसे की बैंगनी खायी गयी। मैंने कहा-"अब और चार पैसे का क्या खाओगे?"

सामने ही एक उड़िया की पान की दूकान थी। वह एक थाल में पान के बीड़े लगा-लगाकर सजा रहा था। बिनू दादा ने मेरी ओर देखकर कहा—"आ, पान खायँ।"

मैं तीन हाथ छटककर बोला—"न भाई, पान नहीं खाते; घर में लोग जान जायँगे।

"दुर बोकाकान्त! मुँह को अच्छी तरह से धो-पोंछ लेने पर कैसे जानेंगे?"

जो हो, दो पैसे के पान भी खाये गये। पान चबाते-चबाते मैंने

कहा--"चलो भाई, पाठशाला चलें--अभी बहुत देर नहीं हुई।"

एक यात्री के पीछे-पीछे एक बुढ़िया भिखारिन पैसा माँगती हुई दौड़ी जा रही थी। बिनोद दादा ने उसे पुकारा--"ओ बुढ़िया! पैसा लेगी?" बुढ़िया के पास आने पर बिनोद दादा ने उसे बाक़ी दोनों पैसे दे दिये।

आहार, पान, मुखशुद्धि और दान--जब यह सब-कुछ हो गया, तो मैंने फिर कहा--"चलो भाई, अब पाठशाला चलें।"

"तू जा; मेरी ये किताबें भी लेता जा। मैं तो बिन्दा की खिड़की वाले बेर के पेड़ पर चढ़ने जाता हूँ। लौटते वक्त मुझे भी पुकार लेना--समझे? नहीं तो खूब मजा चखाऊँगा।"

तब मैं अकेला ही पाठशाला गया। लेकिन, जिसका डर था, वही हुआ। पाठशाला में घुसते ही पण्डितजी ने जलद-गम्भीर स्वर में पूछा--"पञ्चू, बिनू कहाँ है रे?"

मैंने कहा--"उसके पेट में बड़ा दर्द हो रहा है, पोनशाई।"

किसी एक लड़के ने खड़े होकर कहा--"न पोनशाई, झूठ बोलता है। आते वक्त मैं देख आया हूँ, वह बिन्दा की खिड़की वाले बेर के पेड़ पर चढ़कर बैठा है।"

"न पोनशाई, झूठी बात है। कल रात से उसके पेट में बड़ा दर्द हो रहा है, इसीसे दादी ने आने को मना कर दिया।" बिनू दादा की शागिर्दी के कारण, झूठ बोलने में मुझे ज़रा भी रुकावट न पड़ती थी।

हरीश पण्डित थोड़ी देर तक मेरे मुँह की ओर देखते रहकर बोले--"इसी से दादी ने आने को मना कर दिया?"

"हाँ, पोनशाई !"

"और शायद इसी से, उसके बदले उसकी किताबें तुझे देकर दादी ने भेजा है ? ये तो बिनू की किताबें हैं न ?"

जिस लड़के ने पेड़ की बात कह दी थी, वही फिर उठ खड़ा हुआ—"झूठी बात है पोनशाई ! उसे बेर के पेड़ पर चढ़कर बेर खाते देख आया हूँ अभी !"

तब, पण्डितजी के हुक्म से पाँच-सात लड़के कमर बाँधकर बिनू दादा को पकड़-लाने के लिए बाहर निकले। लेकिन, यह चढ़ाई बिल्कुल व्यर्थ है, यह बात मैं जितना जानता था,—उससे कम इनमें से कोई न जानता था। बिनू दादा को जबर्दस्ती पाठशाला में पकड़ ला सके, ऐसी हिम्मत लड़कों में तो किसी में थी ही नहीं—स्वयं हरीश पण्डित में भी नहीं थी।

जो हो, पाँच-सात जने तो बिनू दादा को पकड़ने के लिए चले, इसी बीच में, मौक़ा पाकर, मजा देखने के लिए मैंने भी उन्हीं लोगों के साथ दौड़ लगायी।

मैंने सोचा था कि दूर से ही इस सेना को देखकर बिनू दादा 'य: पलायेत्स जीवति' महावाक्य का अनुसरण करेंगे, लेकिन देखा —लड़कों को देखकर भी वे तनिक चञ्चल न हुए और आराम से बेर-भक्षण कार्य में तत्पर रहे। लड़कों ने जब जाकर पेड़ को घेर लिया तो ऊपर से चार-पाँच बेरों का गुच्छा फेंककर बिनू दादा ने खूब जोर से उन्हें मारा। कहा—"मुझे पकड़ने आये हो ? ठैरो, पकड़ाता हूँ।" कहकर, दोनों हाथों से बेर फेंक-फेंककर वे उन

सबों को मारने लगे। मानों उस पेड़ रूपी बन्दूक से बेर रूपी गोलियाँ आ-आकर लड़कों के सिर-पैर, छाती और पीठ पर पड़ने लगीं। और कोई उपाय न देखकर, लड़के लड़ाई छोड़ कर, पाठ-शाला की ओर भाग चले। मैंने कहा—"बिनू दादा, अब उतर कर झटपट भागो!"

बिनू दादा ने इत्मीनान से जवाब दिया—"रहने भी दे, डरपोक कहीं का! कौन पकड़ेगा?—आवे न एक बार!"

"भाई, थोड़े अच्छे-से बेर गिरा दो न, खाऊँ!"

"अब तो मैं पहुँचता ही नहीं रे! सालों को मारते-मारते पेड़ एकदम झङ्खाड़ हो गया है।"

एकाएक दिखाई पड़ा कि सारी पाठशाला ही इसी तरफ चली आ रही है—साथ में स्वयं हरीश पण्डित हैं! मैं बोला—"बिनू दादा, जल्दी भागो, जल्दी।" कहा जरूर, लेकिन भागने का उपाय भी न रहा; क्योंकि पण्डितजी उस वक्त सेना-सहित एकदम रण-क्षेत्र में आ-पहुँचे थे।

पेड़ के नीचे एक तालाब के ऊँचे कगारे पर यह पेड़ लगा हुआ था और डालियाँ इसकी जल के ऊपर दूर तक फैल गयी थीं।

पण्डितजी पेड़ के नीचे आकर ऊपर देखते हुए बोले—"बिनू, भला चाहता है तो पेड़ से उतर आ।"

बिनू दादा ने बात जैसे सुनी ही नहीं। डाल पर पैर लटका-कर जैसे बैठे हुए थे, वैसे ही बैठे रहे। न तो पण्डितजी की बात

का जवाब दिया, न उनकी ओर आँख उठाकर देखा। तब पण्डितजी गर्जकर बोले—"उतरेगा कि नहीं, बोल ! नहीं तो बेर की यह काँटेदार लकड़ी तेरी पीठ पर तोड़ूँगा !"

न-जाने कौन किससे कहता है ! बिनू दादा जैसे पैर लटकाकर बैठे हुए थे, वैसे ही चुपचाप बैठे रहे। एक बात न बोले, न हिले, न किसी ओर उलटकर देखा।

तब पण्डितजी ने पुकारकर कहा—"हाबू, चढ़ तो रे, पेड़ पर।"

पण्डितजी का हुक्म पाते ही हाबू उर्फ़ हाबुलचन्द्र धोती समेट-कर पेड़ पर चढ़ गये। पेड़ की जिस ऊँची डाल पर मेरे बिनू दादा बैठे हुए थे, हाबू जब उसके पास पहुँचा तो एकाएक पेड़ पर जैसे प्रलय का तूफ़ान आ-गिरा। सारा पेड़ भयानक रूप से हिलने-डुलने और झकझोर खाने लगा। ऊपर की ओर आँख उठाकर देखा तो बिनू दादा जी-छोड़कर पेड़ को हिला रहे हैं—बाः, कैसा भयानक झकझोर था ! एकाएक झप्-झपाङ्ग करके पेड़ पर से कोई भारी चीज पानी में जा-गिरी। देखा तो हाबू सर्दार पानी में गिरकर डुबकियाँ लगा रहे हैं। तब पण्डितजी खुद ही कपड़े समेट-कर उसे बचाने के लिए कूद पड़े। उस समय लड़कों का झुण्ड खूब शोर-गुल मचाने लगा। इसी बीच में मौक़ा पाकर बिनू दादा छूमन्तर हो गये।

---

[२]

उस दिन बेर के पेड़वाले क़िस्से को लेकर हम लोगों का पाठशाला जाना ख़त्म हो गया। घर लौटकर बिनू दादा ने सच और झूठ मिलाकर दादी से न-जाने-कितनी बातें कहीं। दादी ने कहा—"लड़कों को लिखना-पढ़ना सीखने के लिए पाठशाला में भेजती हूँ, मार डालने के लिए नहीं। दादी के हुक्म से उसी दिन शाम को ताऊ जी ने हरीश पण्डित को तलब किया। मालूम पड़ता है कि बिनू दादा ने मन-ही-मन यह बात ख़ूब अच्छी तरह समझ ली थी कि अब पाठशाला न जाना होगा, अतः हरीश पण्डित जब शाम को आकर ताऊ जी के सामने बिनू दादा पर अपराध लगाने लगे, तो दर्वाज़े के पास खड़े हुए बिनू दादा भी उन पर अपराधों की बौछार करने से नहीं चूके। बिनू दादा निडर आदमी थे, इस में तो कोई शक ही नहीं है। लेकिन, यह जानकर भी कि अब कभी पाठशाला न जाना पड़ेगा, मैं हरीश पण्डित के मुँह पर वैसी बात न कह सकता था।

ताऊजी ने पूछा—"तू सीधा घर न लौटकर बिन्दा के बेर के पेड़ पर क्यों जा-चढ़ा?"

बिनू दादा ने झटपट जवाब दिया—"पोनशाई ने घर से तमाकू चुरा लाने के लिए कहा था, सो मैं भूल गया; इसी से वे

बेल लेकर मारने दौड़े और जब मैं भागा तो एक झुण्ड लड़कों का मुझे पकड़ने के लिए दौड़ा दिया। जब मैं उनसे पार न पा सका, तो पेड़ पर चढ़ गया। तमाकू घर से चुरा लाने की बात एकदम झूठी है, इस बात को हम तीनों के सिवा, ताऊजी शायद समझ नहीं सके। उस दिन अचरज हुआ कि हरीश पण्डित के मुँह पर ऐसी सिर से पैर तक झूठी बात बिनू दादा कैसे कह गये। घर से तमाकू लाने की बात हरीश पण्डित कहते जरूर थे। यहाँ तक कि माँगने से न मिले तो चुरा लाने का भी उनका आदेश था,—लेकिन, यह आदेश हम लोगों के लिए नहीं, बल्कि जो हमसे नीचे दर्जे में पढ़ते थे, उन लड़कों के लिए था।

ताऊजी का मुँह देखने पर मालूम पड़ा कि बिनू दादा की तमाकू वाली बात काम कर गयी है। हरीश पण्डित ने कहा—"क्यों रे बिनू, भैया, इतने बड़े घर का लड़का होकर झूठ बोलता है,—अच्छा पञ्चू कहाँ है, उसे बुला तो जरा, वह कभी झूठ न बोलेगा। 'डायग्नोसिस' करने जाकर पोनशाई ने भयानक ग़लती कर डाली। पञ्चू भी दादा के पीछे-ही-पीछे चलता है, पोनशाई यह बात बिलकुल न जानते थे। बिनू दादा के पास, दीवार की ओट में खड़े-खड़े मैंने कहा—"हाँ, तमाकू ले आने के लिए तो आप रोज हम लोगों को कहते हैं!" बिनू दादा ने साथ-ही-साथ कहा—"और पढ़ना-लिखना तो एकदम ही कुछ नहीं होता। पहाड़ा-गिनती भी सब हम लोग भूलते जा रहे हैं। पोनशाई खाली सोया करते हैं और हमलोगों को उनकी पीठ में और पैर में 'सुरसुरी' देनी पड़ती है।"

उसी समय मैंने हरीश पण्डित की ओर देखा। इतने बड़े प्रकाण्ड पण्डित मानो शर्म से और नफ़रत से और थोड़े-थोड़े डर से फ़क् पड़ गये थे। अपना पक्ष समर्थन करने के लिए एक शब्द भी उनके मुँह से न निकला। प्राय: तीन-चार मिनट सब के चुप रहने के बाद ताऊजी ने कहा—"अच्छा हरीश, अब तुम जाओ;—ये अब पाठशाला न जायँगे। बड़े हो गये हैं; सोचता हूँ, अब इन्हें स्कूल में ही भर्ती कर दूँ।"

हरीश पण्डित के मुँह से इस बात का भी कोई जवाब न निकला। चुपचाप उठकर और ताऊजी को नमस्कार कर के वे चले गये।

उसी समय बिनू दादा ने मेरा हाथ पकड़कर इतनी जोर से दबाया कि उसका दर्द दूसरे दिन तक हाथ से न गया।

पाँच-सात दिन बाद सुना कि ताऊजी हरीश पण्डित को हम लोगों की फ़ीस की बाबत जो दो-दो रुपये देते थे, वह बन्द कर दिया गया। उस समय दो रुपये का दाम था, दस रुपया। अत: पोन-शाई का मामूली नुकसान नहीं हुआ। बिनू दादा को पुकार कर कहा—"क्यों झूठमूठ यह-सब कहा?" बिनू दादा ने कहा—"कहूँ न तो क्या! साला भारी बदमाश था।.........और मैंने अकेले तो कहा नहीं, तूने भी कहा है।"—"पहले तुमने कहा, तब मैंने कहा।" उस उम्र में, मालूम पड़ता है, कि यही समझता था कि दूसरे के बोलने पर झूठ बोलना बुरा नहीं है।

जो हो, पाठशाला के क़िस्से तो खत्म हुए। स्कूल में भर्ती होने की बात कुछ दिनों तक उठी ही नहीं। पिताजी बहुत बड़े-बड़े
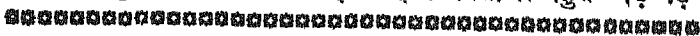
कामों में लगे रहते थे, हम लोगों के पढ़ने-लिखने-जैसे छोटे-मोटे कामों की ओर ध्यान रखने का वक्त उन्हें न मिलता था। ताऊजी को और कोई काम नहीं था, इसीसे हम लोगों के पढ़ने-पढ़ाने की बात वे ही सोचा करते थे। और इसीसे हम-सब पिताजी पर खुश रहते थे और ताऊजी पर नाराज़।

ताऊजी ने हम लोगों को स्कूल में भर्ती होने के पहले रोज़ सबेरे-दोपहर को बैठकर खुशख़त लिखने और सवाल करने को कह दिया था, लेकिन हम लोग उसे छूते भी न थे — न लिखते, न सवाल ही लगाते। उस वक्त चौबीस घण्टा गोली खेलने की धूम पड़ गयी। ताऊजी रोज़ ही पूछते कि खुशख़त लिखना और सवाल लगाना हो रहा है कि नहीं, और रोज़ ही हम लोग सिर हिलाकर उन्हें धोखा दे जाते थे। लेकिन, एक आदमी के सामने हम लोगों का धोखा किसी तरह न चलता था—वह थीं, दादी। उनके लिखने-पढ़ने के तकाज़े से हम लोग घबरा उठे। चौबीस घण्टा उनके मुँह में एक ही बात रहती—"अरे, हाथ की लिखावट पक्की कर, तभी तो साहब की नौकरी पावेगा।

एक दिन गोली की थैली लेकर ज्यों-ही बाहर निकला, दादी हाथ पकड़कर खींच ले गयीं। एकदम दुतल्ले के बरांडे में ले जाकर जबर्दस्ती ज़मीन पर बैठा दिया। बोलीं—"उदय-अस्त खाली खेलना, खाली खेलना! मुँहझौंसे लड़के कहीं के!! बैठ यहाँ। यह दूध की हँडिया रक्खी हुई है। देख, कहीं बिल्ली न पी जाय, तबतक मैं कपड़े पछार आऊँ। बेची की बहू ऊपर आवे तो उसे दूध बताकर तब जाना!"

बड़ी देर बीत गयी। मैं गोली की थैली हाथ में लिये दूध की चौकीदारी कर रहा हूँ—न तो दादी ही लौटीं, न उनकी बेची की बहू ही आयी। इसी वक़्त बिनू दादा ने आकर कहा—"अरे, 'घाट-पार' खेलना हो तो गोली लेकर आ झटपट। 'घाट-पार' का मतलब है, जमीन में खूब बड़ा-सा एक घर बनाकर एक प्रकार की गोली खेलना। 'घाट-पार' खेलने में मैं अपने साथियों में सबसे उस्ताद था, अतः उसी वक्त दौड़ जाने को जी हुआ, लेकिन दादी के दूध की चौकीदारी कर रहा हूँ—जाने का कोई उपाय नहीं है। बिल्ली को अगर देख पाता, तो न होता उसे रस्सी से बाँधकर रख जाता।"

बिनू दादा से यह बात कही, तो बोले—"तू एकदम गधा है। एक बिल्ली को बाँधेगा और अगर दूसरी आकर खा जाय?"

"तब क्या करूँ?"

"करेगा क्या? दूध की हँडिया कहाँ है?" कहकर सड़-सड़ करके बिनू दादा बारह आना दूध एक साँस में पी गये और बाक़ी मेरे सामने रखकर कहा—"पी जा! और हँड़िया औंधाकर चल। अब बिल्ली आकर कच्चू खायगी!"

उस दिन शाम को पिताजी, ताऊजी और दादी वगैरह इस बात को लेकर खूब हँसे। मैं मन-ही-मन निश्चिन्त हुआ कि बात हँसी में ही टल गई। लेकिन कौन जानता था कि इतनी हँसी के बाद भी हम लोगों के आँसू के साथ यह बात खत्म होगी! उस दिन रात को पिताजी और ताऊजी ने हम लोगों की कैसी दुर्दशा की यह याद करके मैं आज भी जैसे शर्म से गड़ा जा रहा हूँ।

[३]

दूसरे दिन से हम दोनों के बँगला स्कूल जाने की बात थी, लेकिन हम लोग आये रायपुकुर—अपने ननिहाल।

यह आना एकदम आकस्मिक था। उस दिन सवेरे-सवेरे धोती-गमछा लेकर ज्यों ही तालाब में नहाने के लिये घर से निकला, माँ ने कहा—"गोली लेकर कहाँ चले? आज कहीं जाना मत; खा-पीकर हम रायपुकुर चलेंगे।

इस रायपुकुर का नाम तो बहुत दिनों से सुनता आ रहा था, लेकिन वहाँ जाने का मौका होश सँभालने के बाद कभी नहीं आया। अतः मामा के घर के बारे में मेरी कोई धारणा न थी। हाँ, इतना जरूर मालूम था कि रेल पर चढ़कर वहाँ जाना होता है। वहाँ नदी है, नाव है, खजूर के पेड़ हैं—इन जाड़े के दिनों में खूब खजूर का रस पीने को मिलेगा। इसी से माँ ने जब वहाँ जाने की बात कही तो मैं खुशी से नाच उठा। "कौन-कौन जायगा माँ?" मैंने पूछा। माँ ने कहा—"और कोई नहीं, सिर्फ तुम और बिनू।" मेरी खुशी का क्या पूछना?—बिनू दादा भी जायँगे? वाः! जी होने लगा कि गोलियों की थैली के साथ ही खुशी से नाचते हुए मन की तरह, अपने सारे शरीर को भी नचा कर घूम-घुमौवल खिला लूँ, क्योंकि इतना सुख भी कभी मुझे

मिल सकेगा, इसका मुझे विश्वास नहीं था। इसके सिवा माँ, मैं और बिनू दादा—पिताजी भी नहीं और दादी भी नहीं। दौड़ कर मैं बिनू दादा को ख़बर देने चला, तभी दादी की आवाज़ सुन पड़ी "चौबीस घण्टा हाय-हाय करके इधर-उधर आवारागर्दी न करते फिरना। किताब कापी और स्लेट-पेन्सिल सब लेते जाना। शाम-सबेरे खुशख़त लिखना। निमाई गाँगुली कुछ ज़्यादा पढ़ा नहीं था, लेकिन अक्षर उसके थे—जैसे मोती! अब जिसी आफ़िस में जाता है, साहब लोग उस पर खुश हो जाते हैं। बिना अच्छे अक्षरों के क्या साहब के आफ़िस में नौकरी मिल सकती है?"

उस समय काबुली मेवा वाले के तक़ाज़े से ऊबकर दादी खुश-ख़त लिखने पर ही जोर दिया करती थीं, इसी से हाथ की लिखा-वट मेरी खूब अच्छी हो चली थी। लेकिन आगे चलकर जब चार-पाँच वर्षों तक 'साहब की नौकरी' करनी पड़ी तो मालूम हुआ कि यह उतनी लोभनीय चीज़ नहीं थी। सब से बेशक़ीमत समझकर दादी जिसके लिये हमारा माथा खाया करती थीं, कर्म-क्षेत्र में जाकर देखा, एक कानी कौड़ी के बराबर भी मोल उसका नहीं है। मोल जिसका पाया, वह खुशख़ती नहीं, और चीज़ थी। जिन लोगों के हाथ का अक्षर अच्छा था, ऐसे कितने ही लोग पन्द्रह से लेकर अधिक-से-अधिक पचीस-तीस रुपये पर हमारे आफ़िस में नौकरी के समुद्र में डूबा-उतराया करते थे। मुझसे 'सीनियर' जो दो साहब क्रम से ढाई सौ और पौने चारसौ रुपये प्रति मास फटकार ले जाते थे, उनके हाथ की लिखावट ऐसी

थी कि दादी के निमाई गाँगुली उसे देखते तो उन्हें कै आ जाती। लेकिन सब के सिर पर तेरह सौ रुपयों की कुर्सी रखकर जो बड़े साहब बैठते थे, उन्होंने इस बारे में सब को हरा दिया था। उनकी लिखावट देखने की चीज़ थी। उनकी लिखावट पढ़ने का जिन्हें अभ्यास था, उनके अतिरिक्त और कोई यदि उस देवाक्षर को पढ़ने की कोशिश करता तो जाड़े के दिन में भी उसे पसीना आ जाता। मैंने कई बार देखा है कि अपनी ही लिखी हुई चीज पढ़ने के लिये उन्हें बड़ी कोशिश करनी पड़ी है और हारकर, कागज़ को गुस्से से मोड़-माड़कर 'वेस्ट-पेपर-बास्केट' में फेंक देना पड़ा है। इसी बात को लेकर कभी-कभी बड़े मजे की घटना हो जाती थी। इसी तरह की एक बात मुझे आजतक नहीं भूलती।

नन्दी महाशय हमारे आफिस के किरानी थे। पन्द्रह रुपये की तनख़ाह पर भर्ती होकर अब इक्कीस रुपया पा रहे थे। उस दिन आसमान में बादल खूब भर आये थे। सबेरे से झमाझम वर्षा हो रही थी। साहब ने उस दिन आते ही झटपट न-जाने-क्या लिखा और उसे कापिङ्ग क्लर्क अक्रूर बाबू के पास कापी करने के लिए भेज दिया, लेकिन मालूम हुआ कि वे अभी तक आये ही नहीं। साहब को गुस्सा आ गया, क्योंकि अक्रूर बाबू इस तरह अक्सर देरी करके आया करते थे। तब साहब ने कहीं भेजने के लिए नन्दी महाशय की खोज की। दुर्भाग्य से उस समय तक वे भी गैरहाज़िर थे। साहब के गुस्से का अब पार नहीं—गरगराते हुए मेरे पास आये और कह गये कि अक्रूर बाबू

और नन्दी महाशय को पाँच-पाँच रुपये फ़ाइन कर दो। बात तो साहब के मुँह से निकल गयी, लेकिन तेरह सौ रुपये के साहब —उन्होंने यह भी न सोचा कि पचास रुपये पाने वाले अक्रूर बाबू, फाइन के पाँच रुपये दे भी सकते हैं, लेकिन इक्कीस रुपये पाने वाले नन्दी महाशय के लिये यह कैसा भयानक हो जायगा। यही बात मैं साहब से कहने जा रहा था कि हाँफते-हाँफते नन्दी महाशय आ हाजिर हुए,—सारे शरीर में उनके कीचड़ लगा हुआ था, कपड़े तर-ब-तर हो रहे थे। साहब के सामने आकर, सलाम करके उन्होंने कहा—"Little late Sir, Excuse Sir."

थोड़ी देर तक उनकी ओर देखते रहकर साहब ने कहा—"No excuse, you must be fined today for your late." कहकर साहब चले जा रहे थे, कि फिर एक बार सलाम करके नन्दी महाशय ने कहा—"What doing Sir? From night अनवरत rains and rains. Roads filled-up with water, No tram, No share-horse carriage, running running come लालदिघी पर्यन्त and then leg slipped and falling down एकदम से चित्‌पटाङ्ग on the road."

नन्दी महाशय की विद्या आठवें दर्जे तक थी, लेकिन इस प्रकार साहब के साथ अनर्गल अंग्रेजी बोलने में वे जरा भी न हिचकिचाते थे। साहब बँगला समझ लेते और बोल भी लेते थे, इसी से नन्दी महाशय की बात समझने में उन्हें दिक्कत न होती थी और मुँह से चाहे जो कुछ कहें, मन-ही-मन, इसीलिए

वे नन्दी महाशय को मानते भी थे। साहब की ओर देखकर नन्दी महाशय ने कहा—"This time excuse Sir, Pardon Sir, और कभी अगर late be, you fine, you beat, हुजूर you गला धक्का giving drive out. you father and you mother, this time excuse Sir."

साहब की ओर देखकर मैंने समझा कि मेरी ही तरह साहब भी बड़ी मुश्किल से हँसी रोके हुए हैं। थोड़ी देर तक उसी तरह नन्दी महाशय की ओर देखते रहकर साहब ने कहा—"All right, Nandi, if you can make a copy of this, you may be excused. Go and make a copy of this." कहकर और अपने हाथ का draft नन्दी महाशय को देकर साहब अपने कमरे में चले गये। नन्दी महाशय लिखना-पढ़ना तो वैसा न जानते थे, लेकिन लिखावट उनकी अच्छी थी। साहब का draft लेकर वे मेज़ के किनारे जा बैठे।

घण्टे भर बाद ही साहब के कमरे से हँसने की आवाज़ सुन पड़ी और साथ-ही-साथ चपरासी ने आकर कहा—"साहब बुला रहे हैं।" साहब के कमरे में जाकर देखा, नन्दी महाशय काठ होकर एक ओर खड़े हैं और साहब, नन्दी महाशय की नक़ल की हुई अपनी चिट्ठी हाथ में लेकर, हँसते-हँसते लोट-पोट हो रहे हैं। बात यह हुई कि साहब ने चिट्ठी में एक जगह लिखा था—"I want more than one hundred men for the dumping ground"—इसको ठीक-ठीक पढ़ न सकने के कारण
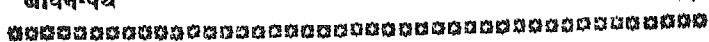
नन्दी महाशय ने लिखा था—"I must marry then one hundred one or two dancing girl." तब मैं भी हँसी न रोक सका। साहब हँसते-हँसते कुर्सी छोड़कर उठ खड़े हुए। बोले—"Nandi, you must be rewarded for this." मैं हँसते-हँसते नन्दी महाशय को अपने कमरे में खींच ले जाकर बोला—"यह किया क्या आपने? Dumping ground को एकदम dancing girl? आज माथा क्या कुछ ख़राब हो गया है नन्दी महाशय?"

नन्दी महाशय ने कहा—"क्या कहूँ भाई, चिट्ठी-पत्री की नक़ल करना, यह सब क्या हम लोगों का काम है? और, लिखावट भी जैसी है, वह तो तुम जानते ही हो—न पढ़ते बने, न समझते।"

जो हो, नन्दी महाशय के इस Dancing girl ने उस दिन उनकी रक्षा की। उस दिन का जुर्माना तो उनका माफ़ ही हुआ, दस रुपये इनाम मिले और अगले महीने से तनख़ाह में एक रुपये की बढ़ती भी हो गयी।...ख़ैर, क्या कहते मैं क्या कह गया!

दादी के तगादे से मैं बड़ी सावधानी के साथ पोथी-पत्रा, स्लेट-पेन्सिल इकट्ठी करने लगा।

हम लोग उस समय जो किताब पढ़ते थे, उसी में सब कुछ रहता था। उसी में अ-आ-इ-ई, A. B. C. D., अङ्क, पहाड़ा, चिट्ठी लिखने का नमूना, ज़मींदारी, महाजनी, उसी में पुराण, काव्य, तत्वोपदेश यहाँ तक कि चाणक्य की राजनीति तक थी।
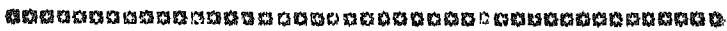
सब ज्ञानों के दीपक स्वरूप उस ग्रन्थ का नाम था—ज्ञानदीपिका। तीस-चालीस वर्ष पहले जिसने गुरूजी की पाठशाला में शिक्षा पायी होगी, उनमें बहुतों ने अवश्य ही इस ग्रन्थ-रत्न का स्वाध्याय किया होगा, लेकिन उसके बाद के छात्रों को यह सौभाग्य न प्राप्त हो सका होगा।

बम्बई के एक प्रकार के फेरी वालों का नाम सुना है—चौचौ वाला। उनके माथे की चँगेली में गृहस्थी के लिए जरूरी प्रायः सभी चीजें रहती हैं, सुई, तागा, बटन, सेफ्टीपिन, मोजा, गञ्जी, रूमाल, किताब, कागज, साबुन, सेण्ट, पाउडर से लेकर पेटेण्ट दवाइयाँ, बिस्कुट, छाता, घड़ी, आलपिन, पिरेक, हुक, कुर्ता, जूता, जवाहिरात और किसमिस, मुनक्का, जर्दालू, खोबानी—यहाँ तक कि हरा नारियल, कोहड़ा और शहद तक रहता है। हम लोगों की यह ज्ञानदीपिका थी, ठीक बम्बई का चौचौ। इसीसे कितने दिन बीतने पर भी इस चौचौ-पुस्तक की बात मैं नहीं भूल सका। मालूम पड़ता है इस जीवन में यह सब भूल भी न सकूँगा।

दो पत्रों के नमूने के सिवा पण्डित जी ने सारी किताब हम लोगों को पढ़ा दी थी। उन दो पत्रों को पण्डित जी ने भी नहीं पढ़ा था और हम लोग भी उसे पढ़कर न समझ सके; लेकिन बचपन में उसको इतनी बार पढ़ा है कि वह कण्ठस्थ हो गया है और शायद जीवन भर भूल न सकेगा। उन पत्रों का एक-एक अक्षर मुझे याद है, पते के सहित सुनिए—

पति को पत्र लिखने का नमूना —

श्री चरणसरसि दिवानिशि साधन-प्रयासी दासी श्रीमती मालतीमञ्जरी देवी प्रणम्य प्रियवर प्राणेश्वर निवेदनञ्चादौ महाशय के श्रीपदसरोरुह के स्मरणमात्र से अत्र शुभम्विशेष। अनन्तर निवेदन है कि महाशय धनार्जन के लिए चिरकाल से परदेश में कालयापन कर रहे हैं, इस दासी ने कालरूपलग्न में पदक्षेप किया है, वह कालहरण करके द्वितीय काल का काल प्राप्त हुआ है। अतएव परकाल में कालरूप को कुछ काल सान्त्वना देने को दोनों काल का सुखोदय विवेचना करेंगे। द्वितीय काल के साधन का धन आदराभृत तृतीय काल के कालानुसार कालकूट दोष होगा। अतएव बहुकाल कालस्वरूप मन में उद्भव होता है कि आगत-काल आगतप्राय है, इसी प्रकार आगत-आगत सोचते-सोचते हृदयागत उन्नत होकर अधोगत प्राय हो गया है, अतएव जाग्रत-निद्रिता के समान संयोग सङ्कलन परित्यागपूर्वक श्रीचरणकमलयुगले स्थानं प्रदानं कुरु, निवेदन इति। २५ चैत्र।

पता—

ऐहिक पारत्रिक निस्तारकर्तृक भवार्णवानाविक

श्रीयुक्त प्राणेश्वर मध्यम भट्टाचार्य

पद्पल्लवाश्रय प्रदानेषु।

स्त्री को पत्र लिखने का नमूना—

परम प्रणयार्णव गभीर नीरवती नवसित कलेवर रङ्ग सम्मिलित नितान्त प्रणयाश्रित श्री अनङ्गमोहन देवशर्मणः। झटित

घटित वाञ्छितान्तः करणे विज्ञापनञ्चादौ श्रीमती के करकमलाङ्कित कमलपत्र पठित अत्र शुभम्विशेष। बहु दिवसावधि प्रत्यावधि निरवधि प्रयास-प्रवास निराश इससे कर्मकाल विनाश अतिरिक्त उत्यक्तन्तःकरण से कालयापन कर रहा हूँ, अतएव मेरे नयन प्रार्थना करते हैं कि सर्वदा एकतापूर्वक अर्चन सुखोद्भव मुखारविन्द यथायोग्य मधुकर की तरह मधुमासादि आशादि परिपूर्ण हों, प्रयासा मीमांसा प्रणीता श्री श्री ईश्वरेच्छा शीतान्ते नितान्त संयोगपूर्वक कालयापन कर्त्तव्य धनोपार्जन तदर्थे तत्सम्बन्धीय कर्तृका दुःखिता, एतादृश उपार्जन का प्रयोजन नहीं है, स्थिर सिद्धान्त ज्ञापन करताहूँ । इति।

पता—

गुणाधिका स्वधर्म परिपालिका

श्रीमती मालतीमञ्जरी देवी

सावित्रीधर्माश्रितेषु।

दादी की आज्ञा से, 'ऐसी' ज्ञानदीपिका के साथ स्लेट-पेन्सिल और कागज-पत्र बाँधकर मैं ननिहाल जाने की खुशी में फूल गया।

[४]

हम लोग रायपुकुर आये हैं। यहां आने के बाद से ही बिनू दादा का दर्शन दुर्लभ हो गया है। सहसा अत्यन्त मनोयोगपूर्वक बिनू दादा एक नये कार्य में दत्तचित्त हुए, अर्थात् उन्हों ने भयानक रूप से सोना शुरू कर दिया। इतना कि उस युग के कुम्भकर्ण अगर उन्हें देख पाते तो अपना 'असिस्टेन्ट' बना लेने में कोई आपत्ति न करते।

उस जमाने में एकतल्ले मकान होते थे। दुतल्ले पर एक छोटी-सी कोठरी थी। जाते ही बिनू दादा ने उसी में अधिकार जमाया और ज़ञ्जीर बन्द करके अकुण्ठित चित्त से, निर्विवाद रूप से सोना प्रारम्भ कर दिया।

उस समय बिनू दादा के चौबीस घण्टों का रुटीन इस प्रकार था—९ बजे प्रातःकाल सोकर उठना। नौ से ग्यारह तक नहाना-खाना। ग्यारह से लेकर पाँच बजे तक ऊपर वाले कमरे में गम्भीर निद्रा। जागने पर पाँच से छः बजे के अन्दर कुछ जल पान। उसके बाद सात बजे से दूसरे दिन नौ बजे तक फिर अपने कमरे में मौज से सोना। इस बीच में, रात के वक्त आठ साढ़े आठ बजे के लगभग थोड़ी देर के लिए भोजन करने उठते थे, उसके बाद पुनः·······।
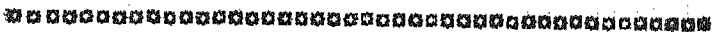
माँ ने एक दिन रामचरण महरा से कहा—रामू, उस घुग्घू का घोंसला जला तो आ, जाकर। मुँहझौंसे को यह हुआ क्या—चौबीस घण्टा खाली सोना, खाली सोना। बन्द तो कर आ ताले में उसको। लेकिन बिनू दादा अचल-अटल बने रहे। उनके सोने में कोई फ़र्क़ न पड़ा। तब माँ एक दिन सचमुच ही ताला-चाभी लेकर बिनू दादा के कमरे की ओर चलीं और थोड़ी देर बाद ही बिनू दादा का नाम ले-लेकर बहुत बकने-झकने लगीं। उनके क्रोध की मात्रा जब क्रम से बढ़ती ही गयी तो दौड़ा-दौड़ा मैं भी ऊपर गया। जाकर देखा माँ जँगले के ऊपर वाले काठ के ताक़ से भर-भर आँचल दीमकलगी मिट्टी निकाल-निकालकर एक ओर फेंक रही हैं और उसके साथ ही मिला हुआ है, दीमक के द्वारा टुकड़े-टुकड़े किया हुआ काग़ज़। समझते मुझे देर न लगी—बिनू दादा ने पढ़ने का बहाना करके अपनी सारी किताबें लाकर उसी ताक़ पर रख दी थीं और उसके बाद उसे छूने की भी नौबत नहीं आयी, फलतः रायपुकूर के दीमकों ने अवसर पाकर उनका सदुव्यवहार कर डाला।

माँ बहुत नाराज़ होकर बिनू दादा को डाँटने लगीं—"अभागा कहीं का! जानता नहीं, यहाँ इतने दीमक होते हैं, फिर भी तुझे होश नहीं है! लिखना गया, पढ़ना गया, दिन-रात खाली पड़े-पड़े सोना!"

लेकिन बलिहारी बिनू दादा की! ऐसी घटना हो जाने पर भी वे आराम से सोये हुए थे और अपनी किताबों की दुर्दशा देख

रहे थे। माँ की बात सुनकर सोये ही सोये बोले—"ज्यादा न बको चाची ! दीमक लगे तो मैं क्या करूँ ? इस जड़काले में भी तुम्हारे देश में इतने दीमक होंगे, यह मैं क्या जानता था !"

"अरे बाँदर ! यहाँ बहुत दीमक होते हैं। जाड़ा है, इसी से तो तुम्हारी किताबों में दीमक लगे, नहीं तो······।"

"नहीं तो क्या चाची ?"

"नहीं तो बरसात होती और तू इस तरह पड़ा-पड़ा सोया करता तो अब तक तुझे ही दीमक खा डालते।"

"हाँ, खा जाते !"

"खा क्यों नहीं जाते रे ! तब की बार खेमी नाउन को बुखार आ गया तो जमीन पर चटाई डालकर पड़ रही बेचारी, शाम के थोड़ी देर पहले जाकर देखा उसकी आधी पीठ में दीमक लग गये हैं।"

"और तब भी वह मजे में सो रही थी ?"

"बुखार में उसे कुछ होश था ? बुत्त पड़ी थी बेचारी। मैंने जाकर······।"

"बाप रे ! जीते आदमी में दीमक लग जाते हैं। धन्य है चाची, तुम्हारा देश !!" कहकर एक छलाँग में बिनू दादा छत पर निकल आये। बोले—"देख लेना चाची, कल से अब मैं सोऊँगा ही नहीं।"

माँ कोठरी में ताला लगाकर नीचे उतर आयीं। मैंने बिनू दादा से कहा—"चलो, तालाब में मछली मारने चलें—चलोगे ?

सोने तो अब पाओगे नहीं, करोगे क्या ?" कहकर मैंने उनकी ओर देखा। देखा, इन कई दिनों में ही बिनू दादा में आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया है—बदन भर आया है, हाथ-पैर और मुँह सुडौल हो गये हैं और चेहरा भी पहले से साफ़ हो गया है। मालूम पड़ता था जैसे बिनू दादा चार-छः महीना वैद्यनाथ धाम, मधुपुर अथवा दार्जिलिङ्ग रह आये हैं। थोड़ी देर तक उनकी ओर देखते रहकर मैंने पूछा—अच्छा, कैसे इतना सो पाते थे बिनू दादा ?"

"पाना क्या रे ? अब क्या नहीं सो सकता ? बाजी लगाकर सो सकता है मेरे साथ ? मैं तो जोर देकर कहता हूँ कि दिन-रात के चौबीस घण्टों में दो घण्टे खाने-पीने के लिए छोड़कर मैं लगातार बाईस घण्टे सो सकता हूँ। सकेगा तू मेरे साथ ?"

"सो तो न सकूंगा, लेकिन मछली पकड़ने में जरूर तुम्हें हरा दूँगा। कल कितनी मछलियाँ पकड़ी हैं, जानते हो ?"

बिनू दादा ने पूछा—"बंसी है ?"

मैंने कहा—"हाँ।"

तब बंसी लेकर हम दोनों बाहर निकले। गाँव के बाहर तालाब था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते देर हो गयी। फिर, उस दिन मछली पकड़ना न हो सका। घाट के किनारे जाकर देखा, भट्टाचार्य की बहू उस सुनसान दुपहरी में बैठी अकेली रो रही हैं। सूना घड़ा उनकी बगल में चुपचाप रक्खा हुआ था।

[५]

पानी की ओर मुँह करके बैठी थीं, इसलिए भट्टाचार्य की बहू हमलोगों का आना न जान सकीं। जिस तरह रो रही थीं, चुप-चाप रोती रहीं।

बिनू दादा ने मेरे कान में पूछा—"कौन है यह, बता तो ?"

मैंने धीरे से कहा—"भट्टाचार्य की बहू !"

बिनू दादा ने कहा—"चाची ने कहा था, ये हमलोगों की मामी लगती हैं। इस तरह क्यों रोती हैं भला ?"

"क्या पता !"

मामा की खिड़की का दरवाजा खोलकर पैर बढ़ाते ही भट्टा-चार्य की दालान में पैर पड़ता है। उन्हीं के घर की यह बहू थी, विधवा। उम्र तेईस-चौबीस साल होगी। घर में सास के सिवा और कोई न था।

बिनू दादा ने एकदम उनके सामने जाकर पूछा—"मामी ! रोती क्यों हो ?"

मामी चौंक उठीं। उन्होंने हाथ से आँखों के आँसू पोंछ लिये। बोलीं—'तबियत खराब है बच्चा ! इसी से रोती हूँ। तुम लोग शायद मछली मारने आये हो ?"

"हाँ मामी ! तुम्हें क्या हुआ है ?"

"पानी लेने आयी थी—घड़े में पानी भरकर जब उठाया तो कलेजे में बड़े जोर का दर्द होने लगा। इसी से कलसी रख दिया और कलेजे को हाथ से दबाकर—"

कितने भी बच्चे थे, लेकिन यह समझते हमें देर न लगी कि मामी सफ़ेद झूठ बोल रही हैं। मन-ही-मन मैंने कहा "हाय मामी! बड़ा दर्द होने लगा इसी से कलसी रख दिया और कलेजे को हाथ से दबाकर? सबेरे से जो सास की बकझक सुनकर और रसोई-घर में फूल-फूलकर रो रही थीं, वह भी क्या घड़ा उठाने से? आँखों के पानी में रोज ही तुम्हें बहना पड़ता है, सो क्या घड़ा उठाने जाकर ही? सचमुच का दर्द जहाँ है, वह हमलोगों से छिपा नहीं है मामी! माँ और नानी के मुँह से दोनों वक्त सुन पाता हूँ, उसे तुम किस तरह छिपा लोगी?"

मामी से मैंने कहा—"मामी! इस दुपहर में इतनी दूर पानी लेने आयी हो?"

मामी ने कहा—"घर में पानी बिलकुल नहीं है। न आऊँ तो कौन आवे?"

"क्यों?—नानी!"

मामी ने कहा—"वे बुड्ढी हैं, इतनी दूर से क्या पानी ले जा सकती हैं?"

"लेकिन, वह तो खा-पीकर रोज इस-उस मुहल्ले में घूमा करती हैं। वह तो यहाँ से भी दूर है।.........तुमने अभी तक शायद खाया-पिया नहीं?"

"नहीं भैया, एक वक्त तो खाना है। इतना सबेरे खाकर क्या करूँगी ?......तुम लोग मछली न पकड़ोगे ?"

"पकड़ेंगे मामी !.........तुम्हें दिनभर तो खाने-पकाने में थकना पड़ता है, शाम को कभी हमारे घर क्यों नहीं आतीं ?—आओगी ?"

"कैसे आऊँगी भैया ?"

"क्यों ? उस वक्त तुम्हें क्या काम रहता है ?"

"रात को अम्मा के जलपान के लिए पराठा-तरकारी बनाना पड़ता है।"

"अच्छा !.........तो मामी! सिर्फ़ अम्मा के लिए ही ? अपने लिए नहीं ?"

"तुम लोग तो यहाँ कुछ दिन रहोगे !.........क्यों भैया ?"

बिनू दादा ने कहा—"हाँ मामी ! रहेंगे।.........लेकिन यह नानी बुढ़िया जल्दी मर जाय।"

"किसको कहता है रे ?"

"तुम्हारी सास को।"

"क्यों ?"

"हाँ,—वह इसी वक्त मर जाय।"

मैंने कहा—"पानी में घुसकर, दूर से साफ़ पानी ला दूँ मामी ?"

"नहीं बेटा, तुम छोटे हो। तुम क्या भरा हुआ घड़ा लेकर चल सकते हो ?" कहकर मामी घड़ा लेकर पानी में उतरीं।

हमारा फिर मछली पकड़ने का जी न हुआ—न जाने क्यों ?

[६]

घूम--घामकर लौटते शाम हो गयी।

सदर दरवाजे से अन्दर जाते नाना जी के क्रोध की याद आयी। इसी से हम लोग पिछवाड़े की खिड़की से अन्दर जाने को तैयार हुए। खिड़की के पास आकर देखा, दरवाजे से पीठ लगाये, अँधेरे में मामी अकेली खड़ी हैं।

मामी को उस अँधेरे में अकेली खड़ी देख कर, उनका हाथ पकड़ कर बिनू दादा ने कहा—"इस तरह अँधेरे में अकेली क्यों खड़ी हो मामी ? क्या हुआ ?"

"कौन ?—बिनू, पंचू ! तुम लोग थोड़ी देर के लिए आओ न भैया मेरे साथ !"

मामी के साथ हम लोग उनके रसोई-घर में घुसे।

रसोई--घर में जाकर देखा लकड़ी धू-धू करके जल रही है और पीढ़ी पर दो-चार बेले हुए पराठे रक्खे हैं। मामी ने कहा—"बहुत डर गयी थी भैया ! यहीं इस खिड़की के नीचे, न-जाने-कैसी आवाज हुई, मानो.........."

बिनू दादा ने पूछा—"नानी घर में नहीं हैं ?"

"नहीं। खा-पीकर अम्मा उस मुहल्ले में गयी थीं। तब से लौटी नहीं।"

"उसको भूतों ने खा लिया होगा। न खाया होगा तो अब खा लेंगे। अब वह न आयेगी। तुम घर में ताला लगा कर चलो मामी, हमारे घर चली चलो।" कह कर बिनू दादा उठ खड़े हुए।

मामी ने कहा—"नहीं भैया! मैं भला कैसे जा सकती हूँ? अम्मा तब क्या जिन्दा रहने देंगी? गाँगुली महाशय आकर लौट जायँगे। यह मुझ से कैसे······"

"गाँगुली महाशय कौन मामी?"

"गाँगुली महाशय को तू ने देखा नहीं?···उस मुहल्ले के आशू-चिशू के दादा हैं।"

"वह क्यों आवेगा मामी?"

"वे आते हैं।"

"रोज आते हैं? क्यों मामी? तुम्हारे कोई लगते हैं?"

"अच्छा, दोनों जने दो-दो पराठा खाओगे? दूँ?"

"नहीं मामी, खायँगे नहीं।······कौन है वह, बतलाओ न। वह भी शायद पराठा खायगा, इसी से इतना बना रही हो!"

"हाँ······तुम लोग तो बैसाख में कालीघाट जाओगे न? अच्छा, यह बताओ, तुम लोग काग़ज पर छोटे-छोटे अक्षर में चिट्ठी लिख सकते हो?"

"हाँ मामी! जितना छोटा चाहो, उतना लिख सकता हूँ।······लिख दूँ?"

"अभी नहीं, जब ज़रूरत होगी, कहूँगी।"
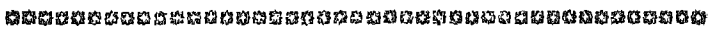
मैं ने कहा —"मुझसे कहना मामी ! मैं इन से भी अच्छा लिख दूँगा । माँ की कितनी चिट्ठियाँ मैं लिख देता हूँ ।"

मामी पराठे उतारने लगीं ।

बिनू दादा ने कहा—" मामी ! तुमने भीम का व्याख्यान सुना है ?

"सुना है कि नहीं, यह पीछे बतलाऊँगी, पहले यह पराठा खाओ ।" कहकर मामी ने मेरे हाथ में दो गरमागरम पराठे और थोड़ा सा गुड़ रख दिया । फिर वे और पराठे उतारने लगीं ।

उसी समय खाँसते खाँसते कोई आया और दरवाज़ा खोल-कर दालान में खड़े-खड़े पुकारा— "विधू !"

चुपचुप मैंने मामी से पूछा—"यही हैं गांगुली महाशय ?"

"हाँ !" मामी ने कहा और घूँघट निकालकर, बाहर जाकर उन्होंने कहा—"अम्मा अभी तक नहीं आयीं ।"

"अच्छा ।" कहकर वह आशू बिशू के दादा बैठक का दर-वाजा खोलकर अन्दर चले गये और चिलम-चमची लेकर तम्बाकू चढ़ाने लगे । हम लोग भी पराठा खा और हाथ-मुँह धोकर खिड़की के रास्ते चुप चुप घर आये ।

नानी, माँ और मौसी, अँगीठी बीच में रखकर ताप रहीं और गपशप कर रही थीं । पीछे देर करने के लिये वे नाराज हों, इसी से घर में घुसते ही बिनू दादा ने कहा —" चाची, मामी को क्या हुआ था, जानती हो ?"

"क्या ?"

"डर के मारे काठ-सी होकर हमारी खिड़की से चिपटी खड़ी थीं। हम लोग न आ जाते तो ……"

नानी की ओर देखकर माँ ने कहा—"मालकिन अभी तक घूमकर शायद लौटी नहीं।

बिनू दादा ने पूछा—"आशू-बिशू के दादा उसके कौन हैं ?"

इस सवाल का जवाब किसी ने न दिया, सिर्फ एक दूसरे की मुंह की ओर देखकर वे लोग ओठों में मुस्करायीं। माँ ने कहा—"जाकर तुम लोग लिखो-पढ़ो, तब खाना मिलेगा।"

मोटी बत्ती का रेंड़ी का तेल वाला दीपक कमरे में जल रहा था। हम लोगों ने काग़ज़-पत्र फैलाकर लिखना-पढ़ना शुरू किया। थोड़ी देर बाद किताब बन्द करके बिनू दादा ने स्लेट सामने रख कर पूछा—"इस तरह का घोड़ा बनाओ तो एक ! देखूँ कौन अच्छा बनाता है !"

तब, हम दोनों ने सिर्फ घोड़ा ही नहीं, घोड़े से शुरू कर के गधा, बन्दर, हाथी, मछली, आदमी की खोपड़ी, पेड़, फूल, पहाड़, घड़ा, प्याला आदि यावत् चेतन-अचेतन पदार्थों का निर्माण करके और अनेक प्रकार के खेल खेल-कर, भूख का उद्रेक कुछ अधिक होने पर काग़ज़-पत्र लपेट कर रख दिया और चिल्लाकर नानी से कहा—"हम लोगों का लिखना-पढ़ना सब हो गया, अब लाओ खाना।"

---

[७]

भट्टाचार्य के आँगन की दालान जहाँ पच्छिम की ओर आकर खत्म हुई है, मामी की एक कोठरी की दीवार वहाँ से शुरू होती है। मैं, बिनू दादा और माँ–हम तीनों उसी कोठरी में सोते थे। घर की पूरब की ओर की खिड़की खोलने से भट्टाचार्य के मकान का सब-कुछ दिखने लगता था।

सबेरे जरा देर से नींद खुली। बाहर धूप निकल आई थी, पर सर्दी के मारे लिहाफ़ छोड़कर उठने को जी न करता था। पूरब की खिड़की खोलकर देखा—रात रहते ही मामी ने जो धान उबाल लिया था। उसे सूखने को आँगन में डाल रही हैं और उन की सास दरवाजे पर बैठी, एक गर्म चादर ओढ़े, पैर-पर-पैर चढ़ाए, पान लगा रहीं और मामी से कह रही हैं—"अभागी कहीं की, किस के बल पर तेरा इतना मिजाज है? पच्चीस साल की पट्ठी है, जानती नहीं कि सबेरे पान न खाने पर दिन भर मेरा जी खराब हुआ रहता है! लेकिन साँझ होते-न-होते ही न जाने कहाँ की नींद आ घेरती है तुझे! तेरी नींद के मुँह में आग और तेरे मुँह में आग!"

मुँह तक घूँघट लटकाये हुए मामी पैर से धान फैलाते-फैलाते बोली—"सबेरे के लिए रोज ही तो पान लगा रखती हूँ, सिर्फ कल
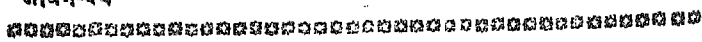
भूल गयी। कलेजे का दर्द कल बहुत बढ़ गया, इसी से---"

भट्टाचार्य की बहू गरजकर बोल उठीं---कलेजे का दर्द, कलेजे का दर्द तो रोज ही सुनती हूँ, लेकिन तुझे जमराज भी तो नहीं बुलाता। कब जमराज के घर जायगी, कब तेरे कलेजे का दर्द शांत होगा !" थोड़ी देर चुप रहकर, लगाया हुआ पान का एक बीड़ा मुँह में रखकर चबाते-चबाते फिर बोलीं—"मिस्री भिगा रक्खी है कि वह भी कलेजे के दर्द में भूल गयी हो, ऐ राजकुमारी !"

"भूली नहीं—भिगायी है।"

"भूलीं नहीं—भिगायीं हैं। जानबूझकर नकनकाती रहती है! मारूँ लात इस मुँह में !.........कुछ कह भी नहीं सकती; जबान से कोई बात निकली नहीं कि फूटी हँड़िया की तरह मुँह लटक गया। अरी ओ मानवती, दूर हो, दूर हो, जमराज के घर जा !"

"दूर ही होऊँगी—जमराज के घर ही जाऊँगी—अब बहुत दिन नहीं हैं—"

गुस्से से मुँह-आँख नचाती हुई भट्टाचार्य की बहू दरवाजे से उठकर आँगन की ओर दौड़ती हुई चिल्ला उठीं—"खड़ी रह अभागी, तेरा मुँह अभी सी देती हूँ, बात-बात पर जबाब दिए जाती है। मिजाज का कोई ठिकाना है ! फिर जो आवाज निकली तो चिमटा गरम करके मुँह झौंस दूँगी।"

मामी ने फिर कुछ न कहा। पैरों से धान फैलाने लगीं। उनकी आँखों से कई बूँद जल टप्-टप् गिरकर उसी धान में मिल-जुल गये।
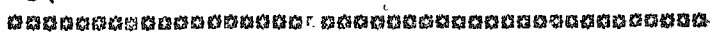
मेरा हृदय दारुण विरक्ति से भर गया। शरीर में दुलाई लपेट कर मैं धीरे-धीरे बाहर चला गया।

कुछ दिन चढ़े जब घर लौटा तो बिनू दादा सदर दरवाजे के पास खड़े थे। उनके हाथ में एक लिफ़ाफ़ा था। बोले—"मामी की चिट्ठी लिखी है, डाक में छोड़ने जाता हूँ।"

"मामी ने लिखने को कहा होगा?"

"हाँ! रोते-रोते बहुत-सी बातें कहीं, वह सब मैंने लिख दीं।"

"किसको लिखा?"

"उनके मामा को। मामा के सिवा उनके और कोई तो है नहीं।"

"क्या लिखा है?"

"......कि मामी की तबियत बहुत ख़राब है। जल्दी एक बार यहाँ आओ। नहीं तो मामी के मर जाने पर फिर मुलाक़ात न हो सकेगी, यही-सब। जाऊँ, चिट्ठी छोड़ आऊँ।......लेकिन देखना, इस चिट्ठी की बात किसी को बताना मत।" कहकर बिनू दादा डाकघर चले गये।

---

[८]

मामी के मामा के यहाँ से चिट्ठी का कोई जवाब न आया।

गाँगुली महाशय को बुखार आ गया था, सास उनको देखने गयीं तो अभी तक लौटकर न आयी थीं। मामी का एकादशी का व्रत था। खाना-पकाने की झञ्झट न होने की वजह से दोपहर को हमारे घर आ-बैठी थीं। माँ, मामी और मौसी से अपने दुख-सुख की कितनी ही बातें कह रही थीं। जाने के पहले मामी जो बातें रोते-रोते कह गयी थीं, वे उस दिन भी मेरे हृदय में चुभ गयी थीं, आज भी वैसी ही चुभी हुई हैं।

हाहाकार करके रोती हुई मामी ने कहा था—"न-जाने कैसी किस्मत लेकर जन्मी थी कि रोते-ही-रोते मेरी सारी जिन्दगी बीत गयी। बाप-माँ किसको कहते हैं, मैंने जाना नहीं। होश सँभालने पर देखा मामा-मामी के घर में थोड़ी जगह बनाकर पड़ी हुई हूँ। उसी उम्र में मुझे कितनी छाती-फाड़ मिहनत करनी पड़ती थी, और बदले में मिलता था दोनों जून दो मुट्ठी भात। उसी उम्र से बहन, अपने कलेजे में रुलाई का समन्दर छिपाये हुए हूँ।" क्षण-भर चुप रहकर रोते-रोते फिर उन्होंने कहा—"आठ वर्ष की उम्र में उन लोगों ने हाथ-पैर बाँधकर मुझे रायपुकुर के इस अगम-जल में बहा दिया। उसके साल भर बाद ही मेरा सब कुछ खो

गया। मामा-मामी ने भी फिर कुछ खोज-खबर न ली। चिट्ठी लिखने पर भी दो अक्षर लिखकर जवाब नहीं देते। और क्या कहूँ बहन, दुनिया में आकर न हुई बेटी, न हुई बहू, न हुई माँ! मैं अपना दुःख क्या कहूँ.........?"

मामी और न बोल सकीं। उनके मुँह, आँख और छाती पर के कपड़े को भिगाती हुई आँसू की धारा बह चली।

नानी ने कहा—"रोओ न बहू, सब तो सहती हो, रोने से क्या होगा ?"

"होने को क्या है चाची ? चाहती थी कि जबतक जीती हूँ, इसी घर में पड़ी रहती, सो भगवान् की इच्छा.........."

मामी की आँखों से फिर आँसू की धारा बह चली, तभी सास के चिल्लाने की आवाज़ सुनकर वे सहम गयीं। झटपट आँसू पोंछते-पोंछते मामी उठकर चली गयीं।

जी हुआ कि मामी के साथ मैं भी दौड़ जाऊँ, पर गया नहीं।

कुछ देर बाद शयन-गृह के पूरब वाले जँगले के पास जाकर बैठ गया। देखा, मामी दरवाजे की खूँटी पकड़कर खड़ी हैं और एक पैर घर में रखे, एक दालान में, भट्टाचार्य की गृहिणी एकटक मामी की ओर ताक रही हैं। ऐसा मालूम हुआ, मानो मदन को भस्म करने वाले शङ्कर की तरह वे आज मामी को भस्म ही कर डालेंगी।

कुछ देर तक इसी तरह देखते रहने के बाद, अस्वाभाविक धीर गले से मामी की सास ने पूछा—"कितने थे ?"
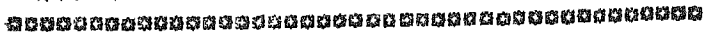
"दस।"

"और दूध ?"

"दूध की खीर बनाकर रख दिया था।"

ओठ चबाते-चबाते श्लेष के स्वर में भट्टाचार्य की गृहिणी ने कहा—"रख कर आप गाँव में घूमने गयी थीं, इसमें आपका क्या दोष है ! क्यों ?"

"इतना भारी ढकना हटाकर खा जायगी, यह मुझे क्या मालूम था ! पराठा-दूध सभी तो खा गयी है।"

भट्टाचार्य-गृहिणी एकबारगी बारूद की तरह जल उठीं। चिल्ला कर बोलीं—"अरे सब खा क्यों जायगी ? जैसे सजा-बनाकर रख गयी थीं, सब वैसे ही रक्खा हुआ है !" कहकर उछलती-नाचती वे घर में घुस गयीं और वहाँ से थाली, रकाबी, कटोरी, गिलास सब आँगन में फेंक-फेंककर कहने लगीं—"देखती हो न, सभी कुछ रक्खा हुआ है। झाड़ू मारकर आज तुझे घरसे निकाल बाहर न किया तो मेरा नाम नहीं।"

सचमुच ही झाड़ू लेकर वे रणचण्डी की तरह कूदती-फाँदती मामी की ओर चलीं। क्रोध और विरक्ति से मेरा हृदय फटने-फटने हो उठा।

दूसरे दिन दोपहर के समय हमारी खिड़की के नीचे खड़ी होकर मामी ने चुपके-चुपके पुकारा—"पञ्चू, जरा यहाँ तो आना भैया!"

मैं मामी के पास दौड़ गया। मामी ने कहा—"एक चिट्ठी तो लिख दो चलकर।"
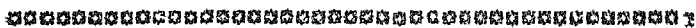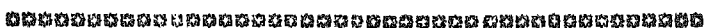
मामी ने सदर दरवाजे की साँकल लगा दी और मुझे लेकर अन्दर आ-बैठीं। मैंने देखा, मामी के सारे शरीर में घाव के निशान बने हुए हैं और कहीं-कहीं खून जमकर लाल हो गया है। कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी। मैं चुपचाप चिट्ठी लिखने बैठ गया।

एक-एक करके, मामी ने जो कुछ कहा, मैंने सभी लिखा। सबका अभिप्राय यह था कि होली के दिन तक तुम्हारा इन्तजार करूँगी। उस दिन दोपहर की गाड़ी तक तुम्हारे न आने पर अपना इन्तजाम खुद ही कर लूँगी, वह शुभ दिन टलने न दूँगी। होली के बाद आने पर मुझे न पाओगे, क्योंकि उस समय मैं तालाब के जल में रहूँगी।

मामी ने कहा–"भैया, पैसा दूँ, चिट्ठी की रजिस्ट्री कर दोगे ?"

"हाँ मामी !...लेकिन, तुम क्या सचमुच मरोगी ?"

"दुर पागल ! सचमुच थोड़े मरी जाती हूँ !"

चिट्ठी को कपड़े में छिपाकर मैं डाकखाने में रजिस्ट्री कर आया।

लौटते वक्त रास्ते में बिनू दादा मिले। बोले- –"चलो अखाड़े में चलें। बड़ी धूमधाम है। गाना–बजाना हो रहा है।"

मैं बिनू दादा के साथ हो लिया।

होली के दिन सबेरे उठकर बिनू दादा ने बाँस की एक पिच-कारी बनाई। नानी ने कहा—"तुम दोनों को पैसा दूँगी, अबीर खरीद लाओ।" फिर चुपचाप कहा—"अपने नाना को खूब रँग देना।"

थोड़ी देर बाद ही नाना ने बुलाकर कहा—"यह लो मालिक, अपनी होली की त्योहारी।" फिर हम-दोनों को दो-दो आने पैसा देकर कहा—"अपनी नानी को अगर अबीर से लथपथ कर दोगे तो एक-एक आना पैसा और दूँगा दोनों जनों को।"

हम लोगों ने दोनों आदमियों की आज्ञा का पालन किया अर्थात् नानी को खूब अबीर भी लगाया और नाना को पिचकारी से खूब भिगा भी दिया। बिनू दादा ने इतना और किया कि एक बड़ा आलू काटकर और उसमें 'गधा' लिखकर नाना के कपड़े-लत्त पर छाप आये।

एक-डेढ़ बजे के लगभग हम-लोग होली खेलकर भूत बने हुए थे। मैंने बिनू दादा से कहा—"चलो अब नहा-धोकर खाया-पिया जाय।"

तभी याद आयी मामी की। बिनू दादा ने कहा—"मामी के पैरों में अबीर लगाकर तो हम-लोगों ने प्रणाम किया ही नहीं।"

मैंने कहा—"अब सही। अभी मेरी जेब में अबीर है।"

मामी के घर जाकर देखा, उनका कहीं पता न था। भट्टाचार्य-गृहिणी दरवाजे के पास बैठकर कंघी से अपने बाल सँवार रही थीं। मैंने बिनू दादा से चुपचाप पूछा—"नानी के पैरों पर अबीर लगाकर प्रणाम करोगे?"

"खाक करूँगा।" बिनू दादा ने कहा।

तब हम-लोगों ने भट्टाचार्य-गृहिणी के पास जाकर पूछा—"मामी कहाँ हैं?"
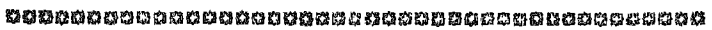
मुँह बनाकर उन्होंने जवाब दिया—"न जाने किस चूल्हे में गयी है। दो घण्टा हुआ, बीबी पानी लाने गयी थीं; जान पड़ता है, तालाब खोदकर पानी लावेगी।.........इतने आदमियों को महरानी निकलती हैं, इस अभागी को वे भी नहीं ले जातीं।"

दो घण्टा हुआ, मामी पानी लाने गयी थीं—अभी तक लौटी नहीं! सहसा मुझे मामी की चिट्ठी की वह बात याद आ गयी—"होली का शुभ दिन किसी तरह टलने न दूँगी।" सारा शरीर सिहर उठा! एक साँस में हम दोनों तालाब के किनारे दौड़ आये, पर मामी कहाँ थीं? जनहीन घाट के तीर पर पीतल की एक कलसी पड़ी हुई थी। तालाब के चारों किनारे घूम-घूमकर हम-लोगों ने देखा, पर वहाँ किसी का नाम-निशान भी न था। मेरे मुँह से सिर्फ यही।निकला—"बिनू दादा!"

एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बिनू दादा वहीं जमीन पर बैठ गये और मैं एक पेड़ की डाल पकड़कर हाथ में अबीर की पुड़िया लिये, चुपचाप पत्थर की तरह खड़ा रहा।

तीसरे पहर आसमान में फैले हुये काले-काले बादल अँधेरा फैला रहे थे, सहसा तेज हवा बहने लगी। कितनी देर तक उसी तरह मैं खड़ा रहा, मालूम नहीं; मुझे होश आया तब, जब हवा के एक झोंके ने मेरे हाथ की पुड़िया को तालाब के जल में फेंक दिया। देखा, अबीर की पुड़िया जहाँ गिरी है, वहाँ का पानी लाल-लाल होगया है। उस समय कुछ सोच नहीं सका, लेकिन आज सोचता हूँ कि मामी के चरणों में लगाने
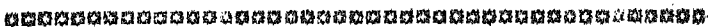
के लिये जो अबीर मैं लेगया था, उसे भगवान् ने इस प्रकार उनके पास तक पहुँचा दिया। उस समय बचपन में जो बात मन में उठी थी, उसे शायद ठीक समझ नहीं सका, लेकिन आज उनके चरणों के उद्देश्य में सिर झुका कर कहता हूँ—"माँ! जननी!! यह अच्छा ही हुआ। तुम्हारे लिये ठीक ही हुआ। सरोवर की इस एकान्त निर्जनता, शीतलता और गंभीरता में तुम रहो—यही तुम्हारा स्थान है! उस समय कदाचित् आँखों से जल की एक बूँद भी न गिरी थी, लेकिन आज, इस बुढ़ापे में उनकी कहानी लिखते समय मैं अपनी आँसुओं की धारा नहीं रोक पा रहा हूँ।

सन्ध्या का अन्धकार जब सघन हो गया, तो घर लौटने की याद आई। और एक बार सरोवर के जल की ओर देखा—वह वैसा ही तरङ्गमय था, स्थान वैसा ही निर्जन था, उस समय भी उसी प्रकार तेज हवा चल रही थी। मन ही मन मैंने कहा—"अच्छा ही हुआ।" तेज हवा का वह झोंका भी कानों में कह गया—"अच्छा ही हुआ" और अन्धकार भी मानो मूर्तिमान् होकर झन्-झन् के स्वर में कहने लगा—"अच्छा ही हुआ,—अच्छा ही हुआ।"

[६]

शुरू बैसाख में ही हमलोग कालीघाट लौट आये। राय-पुकूर यद्यपि मलरिया की जगह थी, लेकिन जाड़ों में वहाँ रहने के कारण हो या और किसी कारण से, मलेरिया तो हमलोगों को हुई ही नहीं, उल्टे तन्दुरुस्ती और अच्छी हो गई; लेकिन गाड़ी से दरवाजे पर उतरते-न-उतरते दादी ने बाहर आकर कहा—"देखो तो, बच्चे दोनों सूखकर काँटा हो गये! सब जानते हैं, मलेरिया का देश है।......अच्छा, बच्चे मेरे भले-चङ्गे, हड्डी ही लेकर लौट आये, यही बहुत हुआ।

लेकिन बच्चों के सिर पर दो दिन बाद ही माँ-सरस्वती का बवाल आ खड़ा हुआ। हमलोगों को दस बजे से लेकर चार बजे तक अब बँगला स्कूल में हाजिरी बजानी पड़ने लगी।

यहाँ आकर देखा, एक नयी ही दुनिया है। यहाँ की अपेक्षा हरीश पण्डित की पाठशाला हमारे लिये हजारगुनी अच्छी थी। बँगला स्कूल में आने पर मालूम हुआ कि हरीश पण्डित की पाठशाला में क्या मधुरता थी। वह था एक बड़े मैदान में बाँस के घेरे में बना हुआ सुशीतल कुञ्जवन और यह ईंट-पत्थर का बना, रेलिङ्ग से घिरा, कोलाहलपूर्ण एक महल। यहाँ हरीशी-भाव का नाम भी नहीं था, यहाँ हेडमास्टर जनार्दन महाशय का जनार्दनी भाव ही सर्वत्र विराजमान था।
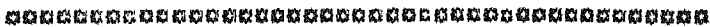
'ऐसे' जनार्दन महाशय के स्कूल में हमलोगों को सिर्फ चार वर्ष आना-जाना पड़ा था, लेकिन उन चार वर्षों में ही न जाने कितना कुछ व्यापार हो गया !

तब हमलोगों का दूसरा वर्ष स्कूल में बीत रहा था। इन वर्षों में स्कूल के लड़कों में मिलकर हम भी उन्हीं में से एक हो गए थे। महीना था आषाढ़ या सावन का, अर्थात् घनघोर बरसात थी। कई दिनों से लगातार पानी बरस रहा था। राह-बाट पानी और कीचड़ से भर गया था, बर्षा के बाद वर्षा हो रही थी। ऐसे ही दुर्योग में एक दिन———लेकिन जाने दो, 'एक दिन' की अब जरूरत नहीं है। 'एक दिन' का नाम देकर, सजा-बनाकर आज जो कुछ कहने जा रहा हूँ, उसकी जरूरत ही क्या है ? न जाने कितने 'एक दिनों' की बात तो आज याद आ-आकर मन-प्राण को आच्छन्न कर रही है, लेकिन सबको अगर स्याही और कलम के मुँह पर खींच लाऊँ तो वह महाभारत के अट्ठारह पर्वों को भी छाप बैठेगी, और उन अट्ठारह पर्वों के साथ बाहर के किसी का कोई सम्पर्क भी नहीं है—वह बिलकुल ही अपनी बात है; अतः उसे पढ़ने का धैर्य किसे होगा और लिखने का धैर्य भी कहाँ है ? लेकिन, स्मृति का दरवाजा खोल कर अतीत की कथा का आलोड़न करने जब बैठा ही हूँ, तो कुछ-न-कुछ तो हमें कहना ही होगा, अतः मोटी-मोटी कुछ बातें कहकर आरम्भ की हुई कहानी को आगे की ओर ढकेल कर समाप्ति की रेखा खींच देना ही अच्छा है।
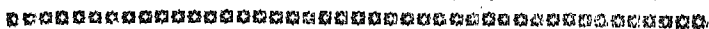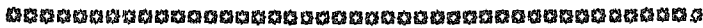
चार वर्ष बँगला स्कूल में पढ़कर वहाँ की सब विद्या समाप्त करने के पहले ही किस तरह ताऊजी ने हमलोगों को अंग्रेजी स्कूल के छठवें दर्जे की जगह आठवें में भर्ती करा दिया, यह वही जानें। उस समय हमलोगों की जो उम्र थी, आजकल उस उम्र में लोग मैट्रिक पास कर लेते हैं, अर्थात् हमारी उम्र हो गई थी प्रायः सोलह-सत्रह साल की। क्लास में हमलोगों से कम उम्र वाले शायद ही दो-एक लड़के रहे हों, अधिकतर हमारे हमउम्र ही थे, हमसे बड़ी उम्रवाले भी दो-एक थे, जिनकी दाढ़ी-मूँछ स्पष्ट ही दीख पड़ती थीं। मास्टर साहब अक्सर गलती से तुम के बदले उन्हें आप कह जाते थे।

दसवें दर्जे में पढ़ते समय बिनू दादा ने एक दिन एक महा भयानक काण्ड कर डाला। बैसाख का महीना था—सबेरे का स्कूल हो गया था। प्रायः सात वर्ष पहले, जिस प्रकार एक दिन रास्ते में खड़े होकर बिनू दादा ने कहा था—"आज तो मैं पाठ-शाला नहीं जाता" उसदिन फिर उसी प्रकार वे रास्ते में अड़ गये। सामने से हमलोगों का चिर-परिचित काबुली आ रहा था। दादा ने कहा—"आज तो मैं स्कूल नहीं जाऊँगा।" उसके बाद राह के किनारे पड़े हुए बहुत से कङ्कड़ों को जेब में भरकर उन्होंने कहा—"चल एक मजा करें।"

"क्या मजा ?"

"यह देख न !" कहकर बिनू दादा एक खाली और टूटे हुए मकान की आड़ में जाकर छिप गये और धोती का फेंटा

खोलकर उसे सिर में बाँधते हुए उन्होंने कहा—"तू भी ऐसे ही बाँध ले, नहीं तो साला पहचान लेगा।"

बिनू दादा ने जिस मकान में आश्रय लिया, उसमें भूतों का अड्डा था, इसी से एक युग से वह मकान खाली ही पड़ा हुआ था। हम लोग विधिवत् सज्जित हो गये, उसके थोड़ी ही देर बाद खाँ साहब अपनी मेवे की झोली लेकर उधर से गुज़रे। उनको देखते ही बिनू दादा ने तानकर पीछे से एक ढेला मारा। वह जाकर धों से खाँ साहब की पगड़ी में लगा। खाँ साहब ने चलते-चलते अपनी लाल-लाल आँखें घुमाकर एकबार चारों ओर देखा, लेकिन कुछ निश्चय न कर सके। दो क़दम आगे बढ़ते-न-बढ़ते दूसरा ढेला उनके बाँये कान के पास जाकर जमा। अबकी बार ज्योंही वे मुड़कर खड़े हुए, एक के बाद एक कई ढेले उनके मुँह, नाक, सर और छाती पर पड़े, साथ-ही-साथ अपराधी का आविष्कार भी उन्होंने कर लिया। तब खाँ साहब हुंकार करते हुए हमारी ओर दौड़े। इधर बिनू दादा ने तड़-तड़ तीन चार ढेले खाँ साहब के गुस्से से भरे हुए मुँह को लक्ष्य करके फेंके और हमको लेकर अन्दर चले गये। बड़ा फाटक उन्होंने अन्दर से बन्द कर लिया। फिर दुतल्ले पर जाकर एक ऐसी जगह खड़े हुए जहाँ से खाँ साहब हमलोगों को देख सकें। उसके बाद भीषण युद्ध प्रारम्भ हो गया। बिनू दादा ऊपर से जितने ढेले फेंकते, खाँ साहब भी रास्ते से चुनकर उतने ही ढेले चलाते। भेद इतना ही था कि बिनू दादा स्थिर-धीर क्रोधशून्य

और अत्यर्थलक्ष्य थे और खाँ साहब भयानक क्रोध से उन्मत्त, नृत्यशील सुतरां प्रतिपद पर व्यर्थलक्ष्य हो रहे थे। अन्त में बिनू दादा मारें एक ढेला तो खाँ साहब दस ढेला। अन्त में सड़क के सब ढेले ख़त्म हो गये। तब खाँ साहब गुस्से के मारे इधर-उधर उछलने-कूदने लगे, लेकिन ढेले तो सब ख़त्म हो गये थे। तब क्रोधान्ध खाँ साहब और कुछ न पाकर अपनी झोली में से ही आयुध-संग्रह करने लगे। पहले उन्होंने बेदाना से प्रहार किया, फिर, उसके ख़त्म हो जाने पर क्रम से अखरोट, बादाम और अन्त में अंगूर के बक्स फेंक-फेंककर हम लोगों को मारना शुरू किया। उनका सारा प्रयत्न, किन्तु, निष्फल होता रहा—बिनू दादा झटपट एक ढेला मारकर और उनको तरह-तरह की अङ्ग-भङ्गी से चिढ़ाकर झटपट दीवार की आड़ में छिप जाते थे। खाँ साहब के ढेला-प्रहार के रूप में गिरनेवाले अनार, अखरोट, बादाम और अंगूर की पिटारियाँ आ-आकर छत पर जमा हो रही थीं। इस प्रकार प्रायः आध घण्टा के तुमुल युद्ध में खाँ साहब की झोली के सारे मेवे आकर छत पर पुञ्जीभूत हो गये।

रास्ते में लोग इकट्ठे हो गये थे असंख्य। सब लोग मिलकर खाँ साहब को शान्त करने की कोशिश कर रहे थे, पर वह क्या शान्त होने वाले थे! ऐसा लगता था कि अगर वह बिनू दादा को सामने पा जाता तो हिरण्यकश्यप की तरह उनका पेट चीर डालता। जो हो, प्रायः आधा घण्टा और निष्फल आस्फालन और तर्जन-गर्जन के बाद खाँ साहब ने स्थान-त्याग किया। और
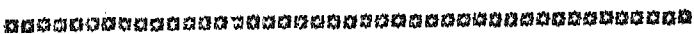
खाँ साहब के जाने के प्रायः घण्टे भर बाद हमलोग सब मेवे इकट्ठा करके और धोती के खूँटे में बाँधकर चुपचाप बाहर निकले।

इस-उस मुहल्ले की परिक्रमा करके हमलोग एक बगीचे के पिछवाड़ेवाले तालाब के किनारे, एक सुनसान जगह पर, आकर बैठे। पोटली खोलकर देखा कि तीन बक्स अंगूर, आठ बेदाना और प्रायः आठ गण्डे अखरोट, खाँ साहब ने हम लोगों के जल-पान के लिए भेंट किया है। अखरोट तो हम लोगों ने खाँ-साहब का नाम ले-लेकर वहीं खा डाला। अंगूर की पिटारी खोलने जा रहा था, तभी बिनू दादा ने कहा—"उसको न खोलो, कल स्कूल जाकर एक आदमी को देना है।"

"जगन्नाथ को?"

"हाँ। बेचारे का लड़का बीमार है। डाक्टर ने बेदाना का रस पिलाने को कहा है, पैसा न होने से पिला नहीं सकता।" कुछ देर रुककर बिनू दादा ने कहा—"स्कूल की फीस दो महीने की बाकी है, दे नहीं सका। उसके लिए दो रुपये तो इकट्ठे किये हैं, कल दे दूँगा।"

"तुम दोगे?"

"क्या करूँ?···उसका लड़का बीमार है, उसके बाप की भी तबियत खराब है। उसके बाप की तबियत खराब न होती तो ऐसा कश-म-कश होता?"

"दो रुपये तुमने कहाँ से इकट्ठे कर लिये?"

"कर लिया है किसी तरह" कहकर बिनू दादा अंगूर की
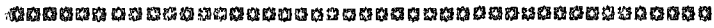
पिटारी बाँधने लगे। मैंने कहा—"कैसे पाया, नहीं बताओगे?... दादी ने दिया?"

"दादी से माँगा था; उन्होंने दिया तो नहीं, उल्टे अपना बक्स भी बाबूजी के कमरे में ले जाकर रख दिया।"

"तब?"

"किसी से कहोगे तो नहीं?"

"न।"

"दो गाय पकड़ कर रोज थाने में डाल आता था, उसी से दो चार दिन में दो रुपये इकट्ठे हो गये।"

प्रायः दस बज गये थे। घास पर रक्खा हुआ पोथी-पत्रा उठाकर हम लोगों ने घर चलने की तैयारी की। रास्ते में मैंने कहा—"वह काबुली तो अजीब बेवकूफ है। अंगूर-बेदाना से भी कोई.........।"

"बेवकूफ नहीं, नाराज हो जाने पर वह ऐसे ही पागल हो जाता है, उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता। दूसरा कोई काबुली होता तो क्या अंगूर-बेदाना फेंककर मारता? दासू हाल्दार ने उसकी बात उस दिन बताई थी, इसी से मैं भी जानता था। वह और किसी बात से गुस्सा न होगा, पकड़ कर पीटने से भी नहीं, लेकिन अगर किसी ने उसकी पगड़ी को हाथ लगाया कि बस, अनर्थ हुआ समझो!"

"जो हो, लेकिन उसने हम लोगों को पहचाना तो नहीं?... पहचान लिया होगा तो खैरियत नहीं।"

"धत्, पहचानता तो क्या इस तरह हमलोगों के साथ मार-पीट करता ?......तब तो सीधे बाबूजी के पास जाकर......"

"लेकिन अगर कोई और ताऊजी से कह दे ?"

"कौन कहेगा ?......कहे न, देख लूँगा उसे भी।"

लेकिन जिस बात का डर था, वही हुआ। सबेरे की यह बात तीसरे पहर ताऊजी के पास पहुँची। उस दिन वे हमलोगों से कुछ न बोले। रोज हमलोगों से वे कुछ-न-कुछ बात चीत किया करते थे, लेकिन उस दिन एक शब्द भी न बोले। दूसरे दिन दस बजे स्कूल से लौटते ही हमलोगों को अपने कमरे में बुलाकर तेज आवाज में कहा—"कहाँ गये थे ? स्कूल ? विद्या सीखने ? विद्या तो बहुत सीख चुके, अब क्या जरूरत है ?"

भूमिका के आरम्भ में ही हमलोगों की आँखें पथरा गयीं। ताऊजी अबकी बार न-जाने क्या करें ! हमलोग सिर झुकाकर कनखियों से देखने लगे कि उनका बेंत कहाँ है। भय और आतङ्क से अन्दर-ही-अन्दर हमलोग काँपने लगे। थोड़ी देर चुप रहकर, उसी प्रकार धीर-गम्भीर स्वर में ताऊजी ने कहा—"इतने बड़े लड़कों को मारते-पीटते शर्म मालूम होती है—उसकी जरूरत नहीं है। मैं तुम्हें मारूँ-पीटूँगा नहीं, लेकिन अब इस घर में तुम्हारे लिए जगह नहीं है। खा-पीकर दोनों जने इस घर से विदा हो जाओ। दो कपड़े, एक अँगोछा और एक महीने की खूराक दस-दस रुपये मुंशी से लेकर दूर हो जाओ। उसके बाद अपना इन्त-जाम खुद कर लेना—जाओ।" कहकर और हमलोगों का

हाथ पकड़कर उन्होंने हमें बाहर निकाल दिया और दरवाजा अन्दर से बन्द कर लिया।

कैसी भयानक बात थी! इससे तो दस-पाँच बेंत मार लेते, यही अच्छा था। घर के बाहर आने पर बिनू दादा की ओर देखते ही मेरा सारा शरीर जल उठा—ऐसे भयानक समय में भी वे ही-ही करके हँस रहे थे। छिः छिः, घृणा और लज्जा से मेरा मन भर उठा। सिर्फ घर से चले जाने को कहते, तब भी कोई बात न थी, लेकिन दो कपड़े, एक अँगोछा और दस-दस रुपये! जी में आया कि सिर्फ घर से ही नहीं, दुनियाँ से भी हम दूर हो जाँय तो अच्छा।"

सन्ध्या के बाद दादी ने आकर ताऊजी से कहा—"क्यों रे, लड़कों से इस तरह भी कहते हैं। दिनभर लाल मेरे सूखे-सूखे हो रहे हैं।"

"कहूँ न तो क्या करूँ? काबुली के साथ मार-पीट? इस हिम्मत की कोई हद है?"

"तुम्हारी जैसी बात!··· ये दुधमुँहे लड़के काबुली से मार-पीट करने जाँयगे! किस मुँहझौंसे ने तुझसे यह लगाया-बझाया है?"

खैर, यह धक्का भी हमलोगों का टल गया, लेकिन जहाँ बिनू दादा हों, वहाँ धक्कों की क्या कमी है; और अपराधी न होने पर भी दण्ड में मुझे जरूर हिस्सा मिलता था। पाँच-छः दिन बीतते न बीतते बिनू दादा ने फिर एक ऐसा काण्ड कर डाला, जिससे हमारे जीवन का स्रोत ही उलट गया।

उस दिन शुक्रवार था। बीमार होने के कारण हेडमास्टर उस दिन स्कूल न आये थे और दूसरे दिन भी न आने वाले थे। स्कूल में बैठने के पहले ही बिनू दादा ने जगन्नाथ से कहा—"भाई, बच्चे के पिता जी, मुझे आप से एक निवेदन करना है।"

जगन्नाथ ने कहा—"देखो बिनू, यह अच्छी बात नहीं है।"

"नाराज क्यों होते हो! आपके साथ सम्मान का व्यवहार न करने से बड़ों का अपमान करने का पाप लगेगा। - बात है यह कि कल 'होंदल-कुत्कुत्' महाशय न आगच्छं। सुना है?"

"हाँ। आज भी नहीं आये। शायद बुखार आ गया है।"

"हाँ, कल भी नहीं आवेंगे, सुतरां कल क्लास लत्ता-पत्ता और फूल से 'एक्सलेंट'........समझे? and so, बाग़ में से फूल चुनकर लाने का जिम्मा तुम्हारा रहा।"

दस बजे छुट्टी हुई। तभी सब लड़कों ने मिलकर विशेष रूप से मन्त्रणा कर ली। दूसरे दिन बिछौने से उठकर सुना कि मेरे जागने से बहुत पहले ही बिनू दादा स्कूल चले गये हैं।

स्कूल आकर देखा कि लाल कागज का तोरण क्लास में टँगा हुआ है और फूल-पत्तों से सजाकर उसे रथ-यात्रा की तरह मनोरम बना दिया गया है। मेज पर कई गुलदस्ते सजे हुए हैं और उनके बीच में पैसे-पैसे वाली रङ्गीन मोमबत्तियाँ जल रही हैं। जगह-जगह मामूली दाम की तस्वीरें भी लगी हुई हैं।

दसवाँ दर्जा दुतल्ले के एक किनारे पर था। इसी से कुछ रात रहते ही लड़कों ने अन्दर से दरवाजा बन्द करके यह साज-

सज्जा की ओर नीचे से मास्टर और दूसरे दर्जे के विद्यार्थियों को इसकी खबर भी न लगी।

स्कूल का घण्टा बजते ही बिनू दादा ने कहा—"खबरदार! चाहे जो हो जाय, जञ्जीर न खोलना।"

सिर्फ बिनू दादा को ही क्यों कहूँ, क्लास-का-क्लास ही एक ढङ्ग का था—बिनू दादा की ही तरह गुणधर! उनमें कोई उन्नीस था, कोई बीस।"

बिनू दादा की बात सुनकर शिबू नाम के एक लड़के ने कहा —"जञ्जीर तो खोली ही न जाय और गुरुचरण बाबू के आते ही पार्ट शुरू हो जाय।" देखा, उसके हाथ में गिरीश बाबू का 'विल्वमङ्गल' खुला हुआ है।

शनिवार के पहले ही घण्टे में थी गुरुचरण बाबू की जामेट्री। घण्टा बजने के दो-तीन मिनट बाद ही गुरुचरण बाबू ने आकर दरवाजा ठेला। तभी, शिबू ने अपना पार्ट शुरू कर दिया— "देख लूँगा—देख लूँगा। ऐसी हिम्मत! एक क्षण की देरी हो गयी है, इसीलिए आधी रात तक दरवाजा नहीं खोला, इसका मतलब है—मतलब है।"

उधर गुरुचरण बाबू लगातार चिल्लाने लगे—"दरवाजा क्यों बन्द कर रक्खा है? खोलो—खोलो!"

गुरुचरण बाबू दो-तीन मिनट चिल्ला-पुकार कर चले गये। बेचारे थे भले आदमी। इसी से लड़के उनका रोब न मानते थे— खासकर दसवें-ग्यारहवें दर्जे के। दसवें-ग्यारहवें दर्जे के विद्यार्थी,

सिर्फ़ गुरुचरण बाबू को ही क्यों, हेड मास्टर साहब के सिवा, और किसी को न मानते थे। उस समय के लड़कों में कितना साहस था !

गुरुचरण बाबू के चले जाने के पाँच मिनट बाद सुपरिन्टेन्डेएट विनयदत्त ने आकर खाँव-खाँव करते हुए दरवाजा खोलने को कहा, लेकिन कौन उनकी बात सुनता है ! विल्वमङ्गल उस समय रज्जु के भ्रम से साँप पकड़कर दीवार फाँद रहा था अर्थात् शिबू पङ्खे की रस्सी पकड़ कर लटका हुआ था। पैर के शब्द से जान पड़ा कि विनयदत्त भी रङ्ग में भङ्ग देकर अन्तर्धान हो गये। इसके दो ही मिनट बाद सीढ़ी पर जूते की परिचित मसमसाहट सुन पड़ी और शिबू रस्सी तोड़कर बच्चे के पिता जी के सिर पर जा गिरा और साथ-ही-साथ दो हाथों के प्रबल धक्के से दरवाजे की जञ्जीर टूटकर दो गज अलग जा गिरी और सामने ही हम लोगों ने साक्षात् यम का दर्शन किया। पीछे दरबान था और उसके हाथ में हाज़िरी का रजिस्टर खोलकर, सब लड़कों के नाम के सामने पेन्सिल का चिन्ह बनाकर हेड मास्टर साहब ने सबको क्लास से बाहर कर दिया। कहने को संक्षेप में सिर्फ़ इतना ही कहा—"सबको दस-दस रुपये का फ़ाइन। सात दिन के अन्दर जो रुपये के साथ न आ सके, उसके आने की कोई ज़रूरत नहीं है। उसे समझना चाहिए कि वह Rusticate कर दिया गया।"

हाय ! हाय ! कैसे अशुभ क्षण में बिनू दादा का भाई होकर मैं जन्मा था कि मेरे दुर्भाग्य का अन्त नहीं है ! एक विपत्ति

किसी तरह टलती है कि दूसरी आ-हाज़िर होती है। आज की बात अगर ताऊजी सुन पावें तो फिर ख़ैरियत नहीं है। इस बार दादी के दादा आकर भी हमारी रक्षा न कर सकेंगे। किसी तरह अगर सोमवार तक फ़ाइन दिया जा सके—लेकिन दस रुपया मिलेगा कहाँ? मन में आया, अगर उस दिन वाला महीने भर की खोराकी का दस रुपया पाकर घर से निकलना पड़े, तब भी फ़ाइन देकर किसी तरह जान बचे और उसके बाद रोज़ काली-मन्दिर का प्रसाद खाकर और नाच-घर के नीचे सोकर भी अगर मरना पड़े तो हमें दुःख न होगा।

जितनी चिन्ता थी, सब मुझी को। बिनू दादा को उसकी परवाह भी नहीं थी। मालूम पड़ता है कि पूर्वजन्म का पाप मेरा ही अधिक था, नहीं तो जो इस भयङ्कर काण्ड का कर्ता था, वह मौज से आनन्द मना रहा था और मेरे ही माथे पर सारी दुश्चिन्ता का आसमान फट पड़ा था। मन-ही-मन निश्चय किया कि इस सङ्कट के टल जाने पर बिनू दादा का सम्पर्क ही छोड़ दूँगा। मैंने भगवान् को पुकारा—"हे भगवन्! यह सब बातें ताऊजी न सुन पावें!"

लेकिन हाय री क़िस्मत! हमलोग अभी स्कूल से लौटे भी नहीं थे कि ताऊजी सब बातें जान-सुनकर बैठे थे।

ऐसा ही होता है। 'कु' जो है उसी की चर्चा होती और वही हवा से भी पहले चारों ओर फैल जाती है; और जो 'सु' है वह किसी के आँख-कान में नहीं पड़ता—इसी से दबकर रह जाता

है। यही जान पड़ता है विधि का विधान है, नहीं तो सातकौड़ी की गाय गाँववाले महीने में बीस दिन पकड़कर थाने पर भेज आते और हमलोग कह-सुनकर छुड़ा देते थे, यह बात कोई जानता भी नहीं; और उस दिन—दिन को भी नहीं—रात को, कोई कहीं नहीं है यह देखकर, लुका-छिपाकर, सावधानी से, उनके बाग में से फूल चुन लाये तो इस बात की खबर फौरन ही उन्हें मिल गयी। आश्चर्य! कार्य 'कु' था कि नहीं, इसी से अँधेरे में भी देखने के लिए आदमी तैनात था!

जो हो, खिड़की से ज्यों-ही हमलोग अन्दर घुसने लगे कि दादी ने कहा, ताऊजी को सब मालूम हो गया है और वे बहुत बिगड़े हुए हैं। सुनते ही हमलोग उलटे पावों पलायमान हो गये। लेकिन हरवक्त पलायमान से रक्षा नहीं होती—पलायमान करने वालों को पकड़ने वाले भी होते हैं। अतः शाम को जब हमलोग गिरफ्तार होकर ताऊजी के सामने लाये गये तो—बिनू दादा की बात मैं नहीं जानता, गुस्से के मारे शर्म से मैंने उनकी ओर देखा भी नहीं था—लेकिन मेरी अवस्था ठीक यूपबद्ध छाग की तरह थी, ठीक, ठीक, ठीक,—इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन, इस दिन भी ताऊजी ने न तो हमको मारा, न गाली दी, न बुरा-भला कहा, एक जोड़ा कपड़ा देकर घर से निकलने को भी नहीं कहा और न उस दिन की तरह हाथ पकड़कर घर से बाहर ही निकाला। लेकिन जिस दण्ड की उन्होंने व्यवस्था की, वह चरम-दण्ड था अर्थात् मृत्यु-दण्ड के समान। हमलोग निर्वासित हुए।

[१०]
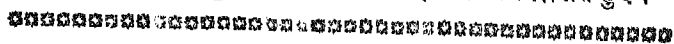
हमलोगों का निर्वासन हुआ श्रीरामपुर को। कहता तो हूँ कि निर्वासन हुआ, लेकिन इसमें सन्देह है कि निर्वासन हुआ या मुक्ति। क्योंकि यह श्रीरामपुर ही हमारे पुरखों का आदि वास-स्थान था। ताऊजीने हमलोगों को जिस घर में भेज दिया, वहीं हमारे पिता और पितामह ने जन्म धारण किया था, मेरे प्रपिता-मह, वृद्ध-प्रपितामह, अति वृद्ध-प्रपितामह और उनके भी पुरखे इसी घर में जन्मे और जीवन का सारा सुख-दुःख यहीं बिताकर इसी घर के आकाश में अपना अन्तिम निःश्वास मिला गये हैं। अतः इस महातीर्थ में आना हमलोगों का निर्वासन हुआ कि मुक्ति यह हम ठीक तौर से समझ न सके।

हमारे पितामह दो भाई थे। हमारे पितामह जब श्रीरामपुर छोड़कर कालीघाट चले आये तो बड़े पितामह जैसे यत्नपूर्वक उस बाप-दादों के घर को जकड़ बैठे। अब तो वे स्वर्गत हो चुके थे, लेकिन उन्हीं के समान मेरे बड़े ताऊजी और उनके दो पुत्र—मेरे दो भाई—अनन्तकाल के उस पैतृक घर की उसी प्रकार रक्षा करते आ रहे हैं और उसकी जीर्ण-शीर्ण गोद में अत्यन्त सुख और तृप्ति से निवास करते हैं।

बड़े ताऊजी उस वक्त पेन्शन लेकर घर ही पर रहते थे। बड़े भैया श्रीरामपुर के माडल स्कूल में हेडमास्टर थे। छोटे भैया एफ० ए० पास करके घर ही पर बेकार बैठे थे। घर में औरतें दो थीं—दोनों भाभियाँ! बड़े भैया के पास रहने से हमलोगों का पढ़ना-लिखना भी ठीक से होगा और कालीघाट के कुसङ्ग से भी हम दूर रहेंगे, इसी ख्याल से ताऊजी ने हमलोगों को यहाँ भेजा था; लेकिन बिनू दादा कालीघाट में रहकर जो-कुछ थोड़ा-बहुत पढ़-लिख लेते थे, श्रीरामपुर आकर उन्होंने यह सब एकदम ही बन्द कर दिया। यहाँ आकर बिनू दादा एक अड्डे के अच्छे-खासे अड्डेदार बन बैठे। लेकिन मैं घर से बहुत कम बाहर निकलता था, पढ़ने-लिखने से जो वक्त मिलता, उसे मैं छोटे भैया की बैठक में ही बिताता था।

छोटे भैया की छोटी बैठक भी एक अड्डा ही था, लेकिन वह साहित्यिकों का था, क्योंकि छोटे भैया स्वयं भी एक साहित्यिक थे। उस समय के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित हुआ करती थीं।

छोटे भैया की साहित्यिक समाज में बैठते-बैठते, साहित्यिक आलोचना सुनते-सुनते मैं भी एक छोटा-मोटा साहित्यिक हो उठा अगर यह कहूँ तो बिलकुल झूठ ही न होगा। छोटे भैया के पास जितनी पत्र-पत्रिकाएँ आतीं, मैं उन सब को शुरू से आखीर तक पढ़ जाता था। छोटे भैया भी इस सम्बन्ध में मुझे ख़ूब उत्साहित करते थे। वे कहते—"अभी से थोड़ा-बहुत लिखने की कोशिश

करो। साहित्यिक का आसन जहाँ है, वहाँ एम० ए०-बी० ए० और राजा-जमीदारों की भी पहुँच नहीं है।"

मुझे याद है,छः महीने श्रीरामपुर माडल स्कूल में पढ़ने के बाद जब वार्षिक परीक्षामें बिनू दादा और मैं, दोनों ही क्रमसे फेल होकर दसवें दर्जे में 'सालभर और रहने का एग्रीमेन्ट कर लिया, तो मैं पढ़ने-लिखने की ओर से अपेक्षाकृत निश्चिन्त होकर साहित्यिकता की ओर अधिक अग्रसर होने लगा और इसी उत्साह में, तीन दिन के अन्दर ही एक छोटी कहानी और एक बड़ी कविता लिखकर मैंने 'अप्रकाश' नामक पत्र में भेज दिया। लेकिन, मालूम होता है-मालूम क्यों, निश्चय ही—डाकखाने की गड़बड़ी से वह पहुँच न सका, पहुंचता तो 'अप्रकाश' में प्रकाशित हुए बिना न रहता।

प्रकाशित न होनेपर भी मेरी कहानियों की फाइल और कविताओं की कापी दिन-दिन भारी होने लगी। लेकिन, एक दिन एक महा अशुभ क्षणमें मेरी यह साहित्य-साधना प्रारम्भ में ही समाप्त होगयी।

स्कूल उसदिन किसी बात के लिए बन्द था। दोपहर को खाना-पीना हो जाने के बाद, छोटे भैया की बैठक में, दरवाजे की ओर पीठ किये मैं 'अन्तिम अभिलाषा' नाम की कविता लिख रहा था। मेरी सभी कविताओं में यह श्रेष्ठ कविता थी, इतनी कि अपने-आप ही उसे पढ़-पढ़कर मैं मगन होने लगा।

कविता पूरी करके मैंने उसे फिर एक बार पढ़ा—

'अन्तिम अभिलाषा'

प्रिये, प्राण का पक्षी मेरा छोड़ स्वर्ग का यह पिञ्जर।

उड़ जावेगा महाशून्य में तब न बहाना दृग-निर्झर ॥
निज नयनों की अश्रु-सुरसरी को कर हृदय देश में बन्द ।
महानीलिमा में तुम मुझको उड़ जाने देना स्वच्छन्द ॥
ले विषाद की सघन कालिमा कोई नरनारी मत पास—
आवे मेरे, सुन न सकूँ मैं करुणा-गीत-ध्वनि व्यथित उदास ॥
तुम, केवल तुम ही बस रहना कानों में कहना कुछ बात ।
निज कर-कोर-स्पर्श से पुलकित करती रहना मेरा गात ॥

चटास् चट् !

सहसा लड़ से मेरी दोनों कनपटियों पर बयासी गण्डे वज़न के ऐसे प्रचण्ड दो थप्पड़ आ पड़े कि मेरा माथा घूम गया, आँखों के सामने की सारी रोशनी गुम होकर अँधेरा छा गया और अँधेरे में मैंने स्पष्ट देख पाया कि मेरे हृदय की सारी कविता छोटे-छोटे सरसों-फूलके आकार में परिणत होकर, उस अँधेरे में तैरते-तैरते क्रम से अदृश्य हो गयी। कानों में कदाचित् ताला लग गया था, इसीसे ताऊजी की बातें पहले सुन ही न पड़ीं। कई मिनट बाद जब होश हुआ, मैंने सुना, ताऊजी कह रहे थे—"कालीघाट से यहाँ पढ़ने-लिखने को भेजा कि फ़ेल होकर कविता लिखने के लिए,—पाजी सुअर स्टुपिड गधे! वह कहाँ है? बुला लाओ उसको झटपट।" गर्दन पर दो रद्दे जमाकर उन्होंने मुझे घर से बाहर कर दिया, और कविता की कापी लेकर निर्दयता-पूर्वक फाड़ने लगे।

जहर खालूँ, कि रेल की लाइन के नीचे जा सोऊँ, यही सोचते-सोचते मैं बिनू दादा की खोज में चला।

बिनू दादा का अड्डा था अनुकूल मित्तिर के जमनास्टिक के अखाड़े में। मैं वहीं चला।

दूरसे ही मैंने देखा, श्याम गोसाईं के दरवाजे पर खड़े होकर बिनू दादा किसी फेरी वाले से बातचीत कर रहे थे। श्याम गोसाईं के घर के पिछवाड़े एक बगिया थी और उसके बाद ही अनुकूल मित्तिर का अखाड़ा। श्याम गोसाईं के घरके पाससे ही अखाड़े जानेका रास्ता था।

पास जाकर खड़ा होतेही बिनू दादाने मुझे अखाड़ेमें जाने का इशारा किया। फेरी वाले ने उस वक्त अपने सर से दोनों हाँड़ियाँ उतार दी थीं; देखा, कृष्णनगर की मलाई है। बिनू दादा उससे मोल करने लगे। समझ गया कि आज बेचारे की क़िस्मत फूट गयी है, अतः वहाँ एक दण्ड भी न ठहर कर धीरे-धीरे मैं अखाड़े की ओर चला।

प्रायः दस मिनट बाद ही बिनू दादा कृष्णनगर के उस फेरीवाले की 'ओरिजिनल' हाँड़ी के साथ सारी मलाई लिये हाजिर हो गये। अनुकूल मित्तिर ने पूछा—"क्यों रे बिनू, क्या बात है?—चुं—फाई क्या?"

बिना कुछ जवाब दिये ही हाँड़ियों को तख्तपोश के नीचे रखकर बिनू दादा ने उसे चादर से ढक दिया। अनुकूल ने पूछा—"कहाँ से मार लाये?"

"देखा कि वह श्रीरामपुर का नहीं है। बारह आने सेर भाव तय हुआ। उसके बाद, यह तो मुझे मालूम ही था कि श्यामगोसाईं इस वक्त सो रहे होंगे, दरवाजा खुला हुआ था। एक साथ सब तौलवाकर दाम कर लिया। फिर हँड़िया के साथ श्याम गोसाईं के घर में घुस गया। फेरी वाले से कहा कि हाँड़ी और पैसे अभी

लेकर देता हूँ। फिर और क्या, सिन-फिन-क्यां! और घर में घुसकर पिछवाड़े की खिड़की से 'भ' में आकर!"

मैंने बिनू दादा की ओर देखकर कहा—" 'भ' में आकर सो हुआ, लेकिन उधर जो 'त' में आकर आ-हाजिर हुए हैं कालीघाट से! तुम्हें बुलाया है, झटपट चलो!"

"सच?" कहकर बिनू दादा क्षणभर मेरी ओर ताकते रहे और उसके बाद प्यारी घोष के हाथ से हुक्का लेकर, कायस्थ के छेद पर उँगली रखकर, मौज से तमाखू पीने लगे।

बात जरा अस्पष्ट रह गयी, इसे खोलकर कह देना जरूरी है।

अखाड़े में जो-जो लोग आते थे, उनमें कोई तमाखू का अपमान नहीं करता था, लेकिन हुक्का था एक ही। इस हुक्के में अनुकूल के बुद्धि-बल से दो ओर दो छेद थे—एक 'क' कार का, एक 'ब' कार का, अर्थात् छोटा छेद कायस्थों के लिए था और बड़ा ब्राह्मणों के लिए। कायस्थ जब पीता तो ब्राह्मण को दबा रखता और ब्राह्मण जब पीता तो कायस्थ को। शूद्रों का झगड़ा अखाड़े में था ही नहीं,—होता तब भी कोई दिक्कत न पड़ती।

हुक्के में दो-चार फूँक मारकर बिनू दादा ने पूछा "बाबूजी कब आ गये थे रे?" कहकर हुक्का मेरे सामने रखकर कहने लगे-"पी।"

"तमाखू मैंने पी है कभी?"

"पहले मैंने जिस दिन शुरू किया, उसके पहले भी पी थी कभी?—ले, ले, जली जा रही है।"

बिनू दादा के हाथ से हुक्का लेकर मैंने अनुकूल को दे दिया

और उठ खड़ा हुआ। बिनू दादा ने कहा—"सदर रास्ते से अब जाना हो न सकेगा, बाजार की ओर घूमकर जाना पड़ेगा।"

मैंने कहा—"तुम उधर से ही जाओ, मैं तो मलाई वाले का हाल देखे बिना जाने का नहीं।"

बिनू दादा भी उठ खड़े हुए। अनुकूल की ओर देखकर बोले—"यह सब रहा; शामको विजया छानकर इसका सदुपयोग किया जायगा।"

बिनू दादा चले गये।

श्याम गोसाईं के घर के पास आकर देखा, बहुत से आदमी जमा हो गये हैं। श्याम गोसाईं हाथ-मुँह फैला-फैला कर कह रहे हैं—"मेरा लड़का तो घर में है ही नहीं और फिर भी साला कहे जाता है कि तुम्हारा ही लड़का ले गया है।"

"अरे बाबू, बराबर ले गया और फिर भी न कहूँ?"

"कहेगा?......अरे इस वक्त तो वह घर में रहता ही नहीं। वह तो दूकान पर है—और वहीं......"

"अच्छा, बाबू जी, आपके लड़के का रङ्ग कैसा है?"

"रङ्ग? रङ्ग तो साफ़ है।"

"और उम्र?"

"अरे यह कहाँ का नालायक़ है? हज़ार बार कह दिया कि वह किसी तरह मेरा लड़का नहीं हो सकता, फिर भी साला..."

"अच्छा उम्र बताने में क्या हर्ज है बाबू!"

"यह तो मैं महा अधर्म-भोग में पड़ा।......अरे, उम्र उसकी और क्या होगी, यही बीस या इक्कीस!"

"ठीक वही थे सरकार! गरीब को मारने से क्या फायदा है! मेरी दोनों हँडिया और दाम दे दीजिए मैं चला जाऊँ। बहुत दूर से आज छिरामपुर आया हूँ मालिक, गरीब को फाँसी मत दीजिए —दोहाई आपकी!"

पीछे हँसी से भण्डा न फूट जाय, इस डर से मैं धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गया। बाजार के मोड़ पर आकर देखा, बिनू दादा मेरी इन्तजार कर रहे हैं।

घर में घुसते ही छोटे भैया ने कहा—"आज खूब बच गया बिनू! बड़े काका आज तुझ पर जैसे गुस्साये थे··· !"

"वो कहाँ है भैया?"

"अभी चले गये। कोई जरूरी काम था, इसीसे देर तक रुक नहीं सके" कहकर छोटे भैया घूमने के लिए बाहर चले गये। बिनू दादा ने कहा—"चलो, अखाड़े में चलें, वह सब खानाहोगा।"

मैंने कहा—"तुम लोग खाओ। वह पाप की चीज मैं नहीं खाता, इसके सिवा मुझे अभी पढ़ना है।"

"अरे, पढ़ना तो जिन्दगीभर है, वह कहीं भागा जा रहा है? खा-पीकर जितना चाहना, पढ़ लेना।"

"नहीं भाई, बहुत पढ़ना है। मैं तो नहीं जाता।"

"देखता हूँ तू बिना पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हुए न मानेगा" कहकर बिना घर में पैर रक्खे ही, बिनू दादा फिर अखाड़े की ओर रवाना हो गये।

——:❀:——

[११]

मैं छोटे भैया की बैठक में आकर अकेला बैठ गया। मन की दशा अच्छी नहीं थी। यद्यपि ताऊजी के थप्पड़ की वेदना अब न रह गयी थी, फिर भी कविता की कापी की दुर्दशा याद कर-कर के हृदय फटा जा रहा था। मैं उसे भूलने की बहुत कोशिश कर रहा था, भाँति-भाँति से मन को प्रबोध देता था, पर हृदय में रह-रह कर एक टीस-सी उठ रही थी।

धीरे-धीरे अँधेरा हो गया, घर के अन्दर सन्ध्या का शङ्ख बज उठा, मेरे हृदय का अन्धकार भी क्रम से घनीभूत होता चला जा रहा था। वहाँ से उठने को जी न हुआ, कहीं जाना भी अच्छा न लगा। उठकर प्रकाश तक नहीं जला सका।

छोटे भैया घूमकर लौटे। बैठक में पैर रखते ही बोले—"क्यों रे पञ्चू, कापी के लिए बड़ा दुःख हो रहा है, क्यों?··· क्या करेगा? साहित्य-कानन में प्रवेश करने पर पैर में काँटे लगते ही हैं, तरह-तरह की तकलीफ़ उठानी ही पड़ती है।··· सो, तूने अभी तो साहित्यिकों की तरह लिखना भी नहीं सीखा—ले, अब लैम्प जला। "मन-ही-मन मैंने प्रतिज्ञा की कि कविता कहानी अब नहीं, दो साल बाद जो होगा देखा जायगा। लेकिन

यहीं पर यह बतला देना अच्छा होगा कि दो वर्ष बाद तो नहीं ही, आज जीवन-पथ के अन्तिम छोर पर आ खड़े होने पर भी यह रोग फिर मुझ पर आक्रमण नहीं कर सका। रोग के आरम्भ में ही उसका अन्त हो गया।

जो हो, वक्त खराब होते देखकर मैं ज्यों ही पढ़ने के लिए मेज के पास जाकर बैठा, त्यों ही बिनू दादा सदर दरवाजा खोल कर हाँफते हुए आते दीख पड़े। मैंने पुकार कर पूछा—"क्यों बिनू दादा, ऐसे क्यों भागे।आ रहे हो ?"

पास आकर हाँफते-हाँफते बिनू दादा ने कहा—"अनुकूल मित्तिर के बाप बोल गये छोटे भैया ! मुझे श्मशान जाना होगा, इसी से कहने आया हूँ। पच्चू, भाभी से कह देना कि मैं खाना नहीं खाऊँगा और रात को लौटूँगा भी नहीं।" कहकर, जैसे आये थे, बिनू दादा वैसे ही हन्-हन् करते हुए चले गये।

बिनू दादा के चले जाने के प्राय: दस मिनट बाद ही मुहल्ले के गोबिन्द कविराज ने आकर छोटे भैया के पास नालिश की—"अपने बिनू की करतूत देखी तू ने सुरेश ! मैं हूँ कविराज, 'सूचिकाभरण' कहाँ देना होगा या न देना होगा, यह मैं जानता हूँ, तू मेरे ऊपर हुक्म चलाकर काम करवावेगा ? मैंने ऐसा नहीं किया, इसीलिए घूँसा चलाकर मारने आया था ? एकबार बड़े बाबू से कह दूँ बिनू के गुन !...कहाँ हैं वे ?"

"बिनू घूँसा दिखाकर आपको मारने चला था कविराज जी ?"

"और नहीं तो क्या झूठ बोलता हूँ! उस समय जगबन्धु, मित्तर का नाभिश्वास चल रहा था। उस समय कोई दवा-दारू लग सकती है? और, तुम्हारा बिनू कहने लगा—सूचिकाभरण दो। मैंने कहा—तू कल का छोकरा है, तुमसे सीखकर अब मैं दवा करूँगा? रामरुद्र गुप्त मुर्दा को गोली खिला देते तो उठकर बैठ जाता, उनका पौत्र मैं हूँ,—मैं तुम्हारे हुक्म से काम करूँगा? सूचिकाभरण कहाँ काम करेगा?—देख,

सूचिकाभरणो नाम भैरवेण प्रकीर्तितः।
सूचिकाग्रेण दातव्यः सन्निपातकुलान्तकः॥

छोटे भैया ने कहा—"तो इसीलिये बिनू आपको घूँसा मारने चला था कविराज जी?"

आँखें कपार पर चढ़ाकर कविराज जी ने तरह-तरह की मुख मुद्रा बनाते हुए कहा—"मारने गया था?—अरे, ज़रा-सा बच न जाता तो वह मुझे मार ही बैठा था!"

गोविन्द कविराज के दुःख की बात सुनने का मुझे ख़ूब अभ्यास था, अतः बैठे-बैठे उनकी बात सुनने की अपेक्षा अनुकूल के पिता को एक बार देख आने की इच्छा हुई। छोटे भैया से पूछकर मैं उधर ही चला।

रास्ते में "हरिबोल-हरिबोल" की ध्वनि सुनकर जाना कि शव श्मशान ले जाया जा रहा है। घर न लौटकर मैं भी श्मशान जा पहुँचा।

नगर के बाहर गङ्गा के तटपर श्मशान था। गङ्गा भरी हुई

थीं, अगाध जल गम्भीर गति से प्रवाहित हो रहा था। शिरीष-वृक्ष के अन्तराल से चतुर्दशी का चन्द्रमा चमक रहा था। चन्द्र-ज्योत्स्ना से गङ्गा का यह-वह किनारा, जल-स्थल, श्मशान और श्मशान के आसपास की भूमि उद्भासित हो रही थी। एक ओर एक चिता न जाने कब से जलकर अब बुझती आ रही थी। जो लोग शव ले आये थे, वे शिरीष वृक्ष के तले बैठकर शराब पीते और न-जाने-किस बातपर ख़ूब गाली-गलौज कर रहे थे।

सब ओर से अपनी दृष्टि हटाकर, एक किनारे एक तेइस-चौबीस साल की निम्न श्रेणी की स्त्री चिता सजाकर उसपर एक छोटे बच्चे को सुलाकर आग जलाने का प्रयत्न कर रही थी। उसके साथ और कोई न था, चार-पाँच साल के बच्चे को शायद वह अकेली ही अपनी छाती में छिपाकर लायी थी। बिनू दादा धीरे-धीरे उसके पास चले गये और क्षण-भर उससे न-जाने-क्या बात-चीत करके हाथ में एक चैली लिये हुए आकर मुझसे बोले—"पञ्चू, उस चिता में से इस लकड़ी को अच्छी तरह से जला ला सकता है? अहा, अकेली औरत है, चिता उससे किसी तरह जलती ही नहीं।"

लकड़ी बिनू दादा से लेकर मैंने कहा—"दूसरी चिता की आग से तो जलाया नहीं जाता!.........लड़का उसका कौन है, बिनू दादा?"

"उसी का लड़का है।"

"उसी का लड़का! माँ अपने हाथ से अपने लड़के को

जलाने ले आयी है !!" हाथ की लकड़ी मेरे हाथ ही में रही और सारा शरीर मेरा काठ हो गया।

"हाँ रे भाई, उसी का लड़का है!········माँ का अनुग्रह (चेचक) हुआ था, किसी ने उसे छुआ नहीं। आहा!"

क्षणभर बाद जब मुझे चेतना हुई, मैंने सोचा—जहाँ यह रहती है, वहाँ क्या मनुष्य नहीं रहते?—सभी पिशाच हैं! और यदि वे मनुष्य ही हैं तो क्या उनके माथे पर गिराने के लिए विधाता के पास गाज नहीं है? बिनू दादा की ओर देखकर मैंने पूछा—"माँ होकर कैसे वह लड़के के मुँह में······"

"कैसे आग देगी, यही पूछता है न? और क्या करेगी बेचारी? माँ होने पर भी हृदय में छिपाकर श्मशान तक तो उसे ही लाना पड़ा है, चिता सजाकर उसपर सुलाना भी पड़ा है, अब जो काम बाक़ी है—वह है ही कितना? एक बार आग लगा देने पर उस रत्तीभर बच्चे को जलकर ख़ाक हो जाने में कितनी देर लगेगी?" कहकर बिनू दादा ने लकड़ी मेरे हाथ से ले ली और फिर उसी स्त्री के पास जाकर खड़े हो गये। मैं भी साथ-ही-साथ गया। मैंने उस स्त्री से कहा—"तुम घर जाओ; जो कुछ करना है, हमलोग कर देंगे।"

स्त्री ने कहा—"मैं न जाऊँगी।"

"तब उधर बैठी-बैठी गङ्गा को देखो। यहाँ से उठकर चली जाओ। तुम्हें न देखना चाहिए।"

"इतने दिन तक देखकर अब नहीं देखना चाहिए? अब ही

तो देखूँगी बाबू ! कैसे आग लगायी जाती है, आपलोग हमको बता दीजिए न !"

यह जैसे न-जाने-किसको जलाने आयी है। आँख से एक बूँद आँसू भी न निकला, कभी निकला था इसका भी कोई चिन्ह न दीख पड़ा। बड़ी बड़ी दो शुष्क आँखों की दृष्टि अक्षमता प्रकाश करती हुई मेरे मुँह पर आ पड़ी ; पूछा—"मुझे मुँह में आग तो देना चाहिए न ? बोलो न बाबू , मैं कुछ भी नहीं जानती !……"

मैंने हाथ पकड़कर उसे उठाया और गङ्गा के किनारे, घास पर, ले जाकर बैठा दिया। कहा—"अगर घर नहीं ही जाना चाहती हो तो यहीं बैठो।" तब मैं चिता के पास लौट आया और मन्त्र के बदले भगवान् का नाम लेते हुए मैंने ही चिता में अग्नि-संयोग किया। मेरे हाथ की आग पाकर, पूर्व जन्म के मेरे उस किसी आत्मीय की चिता धाँय-धाँय करके दहक उठी। पीछे घूमकर देखा, स्त्री को जहाँ बैठा आया था, वह वहाँ नहीं है, मेरे ही पीछे दस-बारह हाथ की दूरी पर खड़ी टकटकी लगाकर देख रही है। उसकी आँखों की दृष्टि देखकर मालूम हुआ कि जलती हुई चिता की समस्त अग्निशिखाएँ उसकी आँखों की राह हृदय में जाकर इकट्ठी हो रही हैं।

क्षण भर में ही सब शेष हो गया। चार वर्ष के एक रोगी बालक के सेर भर हाड़ को जलकर खाक होने में देर ही कितनी लग सकती है ? थोड़ी ही देर में समाप्त हो गया।…उसी समय एक ओर अनुकूल मित्तिर के पिता की चिता दहक उठी।

स्त्री के पास बैठकर मैंने पूछा—"अब क्या करोगी ?"

उत्तर में उसने भी मुझसे यही सवाल किया—"क्या करूँ ?"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"पलाश-तले।"

श्रीरामपुर से थोड़ी दूर पर, गङ्गा के किनारे कई घर केवट रहते थे, वही जगह पलाश-तले कही जाती थी। मैंने कहा—"अभी बहुत रात नहीं हुई, चलो तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा दूँ।" उसने मेरी बात का कोई जवाब न दिया, चुपचाप खड़ी रही। मैंने पूछा—"घर न जाओगी ?"

"न।"

"यहीं रहोगी ?"

"यहाँ ? न, अब और यहाँ न रह सकूँगी। मैं कहाँ जाऊँ बाबू ?" वह शून्य दृष्टि से मेरी ओर देखती रही।

क्या कहकर इसको सान्त्वना दूँ ? देवता की इस विराट् छलना के बाद, उसका मातृ-हृदय किसी तरह सन्तुष्ट नहीं हो सकता, इतना समझने लायक मेरी उम्र थी, इसीलिए उसका प्रयत्न न करके मैंने कहा—"तब तुम साथ आओ। चलो दोनों जने नहा-धोकर घर चलें।" सहसा वह फूट पड़ी और उसके मुँह से एक निःश्वास निकला, साथ-ही-साथ उसका सारा शरीर सिहर उठा। उसके बाद बुझी हुई चिता की ओर क्षणभर देख कर धीरे-धीरे मेरे पीछे चली।

---

[१२]

"उसके बाद ?"

उस स्त्री को उसदिन अपने ही घर ले आया था। दो दिन तक उसे अपने घर रखने के बाद, वर्द्धमान जिले के धूलोखाली में उसे पहुँचा देने की व्यवस्था की गयी। जाने के एक दिन पहले दोनों भाभियाँ उसके पास बैठकर उसके दुःख की कहानी सुन रही थीं। बिनू दादा और मैं भी वहीं था। सुनते-सुनते बड़ी भाभी ने पूछा—"उसके बाद ?"

उस स्त्री ने कहा—"उसके बाद विधवा होकर धूलोखाली में बाप के घर चली गयी। उस समय बच्चा मेरे पेट में था, वहीं जाने पर पैदा हुआ। उसके बाद इन चार वर्षों तक बूढ़े बाप का गलग्रह होकर ही तो रही। बाप के घर में और तो कोई है नहीं—बूढ़ा बाप और माँ, मेहनत-मसक्कत करने की तो शक्ति अब उनमें रही नहीं, किसी तरह दो पैसे का उपाय करके एक जून राँधते और दो जून खाकर वक्त बिताते थे। ऐसी हालत में मेरे पहुँच जाने से वे बड़ी मुश्किल में पड़ गये। और मैं भी अकेली न थी, लड़का धीरे-धीरे बड़ा होने लगा—दो मूठी भात खाना उसने भी शुरू कर दिया था।" कहकर वह आँचल से आँख पोंछने लगी।

बड़ी भाभी ने पूछा—"पलाशतले तुम्हारे घरवाले की दो-एक बीघा जमीन नहीं थी ?"

"थी मलकिन, दो-एक बीघा थी। उसी की आशा में तो पाँच बरस बाद फिर यहाँ लौटकर आयी थी। सोचा था कि जो दो-एक बीघा जमीन है, उसी को बेच-बाच कर अगर बूढ़े बाप को बीस-पचास रुपये जो पाऊँ दे सकूँ तो थोड़ा सहारा हो। आकर देखा, घर किसी तरह खड़ा है। उसीमें किसी तरह जाकर पड़ रही। जमीन की खोज-खबर लेने पर मालूम हुआ कि उसे गदाई दलुई ने अपने अधिकार में कर रक्खा है और धोखा देकर उसकी कमाई खा रहा है। उससे कहने गयी तो वह मुझे मारने दौड़ा। भय से भाग आकर अपने दरवाजे पर बैठकर रोने और भगवान् के दरबार में नालिश करने लगी। लेकिन, देवताओं के क्या कान हैं, या उनके यहाँ न्याय है ?—ऐसा होता तो क्या उनके हाथ का सेल मेरे कलेजे में आकर इस तरह बिंधता ?"

बड़ी भाभी ने कहा—"न रोओ बहन ! उसके बाद क्याहुआ ?"

"उसके बाद, मुहल्ले के लोगों के घर-घर घूमी, कि कोई गदाई के हाथ से मेरी जमीन का उद्धार कर दे। लेकिन कौन किसके लिए करता है ? गदाई मुहल्ले का सरदार है, सभी उसके वश में हैं। किसी ने मेरी बात पर कान भी न दिया। सभी मुँह बनाकर चले गये। तब मैं एक दिन गदाई की दालान में जाकर उसे जीभर गाली और शाप दे आयी। गदाई उस वक्त घर में ही था, चुप होकर उसने सब सुना। मुँह से एक शब्द भी

न कहा। संझा के बाद दरवाजे पर चटाई बिछा कर बच्चे को लिये सो रही थी, तभी गदाई धीरे-धीरे वहाँ आ खड़ा हुआ। डर के मारे मैं काँप गयी। उसके बाद की बात मुँह से निकालने से,—बच्चे यहाँ हैं, वह बात कैसे कहूँ मलकिन—सुनकर कानों में उँगली देनी पड़ती है। जाने के वक्त कह गया—'जमीन तो दे ही दूँगा, उसके अलावा तुझे गहना-गाँठी गढ़ा दूँगा। देखना कितने सुख में रहेगी! दो दिन बाद आऊँगा, सोच-समझ कर जवाब देना।" भय, लज्जा, अपमान और ग्लानि से मेरी चेतना लुप्त हो गयी थी। आँख खोलकर जब देखा, गदाई चला गया था। बेहोश की तरह सोये-सोये ही मैंने भगवान् को पुकारा— "भगवान्, मेरा कोई नहीं है, तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, तुम मेरी रक्षा करो, पापी के हाथ से बचाओ मुझे!"

"उसके बाद ही शायद तुम्हारा बच्चा बीमार पड़ा?"

"नहीं दीदी, ऐसा होता तो ठीक ही था। मेरे दुःखों का क्या अन्त है? अभी भी क़िस्मत में कितनी दुर्दशा लिखी है, यह भगवान् ही जानें" कहकर बच्चे की माँ क्षण भर चुप रहकर अपने आप ही बोल उठी—"और भगवान् भी क्या करें?"

छोटी भाभी ने पूछा—"उस वक्त अपने बाप को खबर देकर तुमने बुलाया क्यों नहीं?"

"नहीं दीदी, बूढ़े बाप को अगर बुलाती तो वे सब गला दबा कर मार डालते? सारा मुहल्ला इमदाद था। इसी से, उस दिन सोये-ही-सोये तय किया कि अब पलाश-तले एक दिन भी न रहूँगी।

बच्चे के बदन पर हाथ रक्खा है, ताप से उसका शरीर जला जा रहा था। सवेरे उठकर बीमार बच्चे को गोद में लिये शहर में नौकरी ढूँढने आयी। उसदिन कोई इन्तजाम न कर सकी तो गोसाईं जी के मन्दिर का प्रसाद खाकर फिर घर लौट गयी। डर के मारे सारी रात आँख न लगी। दूसरे दिन फिर काम-धन्धे के फ़िराक़ में निकली। उस दिन एक काम मिला भी। हमारे ही गाँव में पूजा करने आते थे, ब्राह्मण थे—चक्रवर्त्ती; मुझे देख कर बोले—"नौकरानी की तो मुझे भी ज़रूरत है। तो, तुम हमारे ही यहाँ रहो।"

बड़ी भाभी ने कहा—"कौन, उस मुहल्ले का, वही—नाम न लेना चाहिए उस का, हारान चक्रवर्ती शायद ?"

"हाँ दीदी, वे हम लोगों के पुरोहित हैं। मैंने सोचा, अच्छा ही हुआ, अच्छी जगह आश्रय मिल गया। बीमार बच्चे को लेकर उसी दिन से उनके यहाँ रहने लगी। गौशाला के बग़ल में लकड़ी रखने की एक छोटी-सी कोठरी थी, उसी को साफ़ करवा के मेरे रहने का इन्तजाम किया गया। पाँच-सात दिन बीत गये। बच्चे की बीमारी दिन-दिन बढ़ती गयी—न जाने सन्निपात कि क्या होगया ! बच्चे ने फिर आँख खोल कर देखा ही नहीं, बेहोश होकर कई दिनों तक पड़ा रहा। उसके बाद एक रात को—उस वक्त रात बहुत बीत गयी थी—न-जाने-क्या आवाज सुनकर नींद टूट गयी; मैंने सोचा—गाय बैलों के पैर की आवाज होगी। क्षण भर बाद ही किसी ने छाती पर हाथ रक्खा—चौंक कर मैं उठ

बैठी। टटिया की आड़ से आती हुई चन्द्रमा की रोशनी में देखा, चक्रवर्ती महाशय एकदम से मेरे बिछौने पर आक्रमण किये हुए हैं। माथा मेरा घूम गया, शरीर न-जाने-कैसा हो गया। तब चक्र वर्ती ने दोनों हाथों से मेरी गर्दन जकड़ ली। चिल्लाना चाहा, मुँह से आवाज़ न निकली, माथे में सनसनाहट उठने लगी। तब थोड़ी दूर पीछे खिसक कर मैंने चक्रवर्ती की छाती में तान कर दोनों लात मारा। उस समय न जाने मुझ में कहाँ से इतना बल आ गया था। देखा, चक्रवर्ती छटक कर खोपड़ी के बल चारो-खाने-चित्त हो रहे हैं। उसके बाद क्या हुआ, मैं नहीं जानती। जब होश हुआ तो देखा बच्चे को गोद में लिये मैं सड़क के एक किनारे बैठी हुई हूँ। वहाँ बैठी-बैठी मैं न-जाने कितना-क्या सोचने लगी। मन में जितने ख़याल उठने लगे, उतना ही डर भी लगने लगा। सब से ज्यादा डर लगा इसलिए कि ब्राह्मण की छाती में मैंने लात मारा है, न-जाने इसके लिए क्या दण्ड भोगना पड़े। अब देखती हूँ, वह ठीक ही हुआ, भगवान् ने हाथों हाथ उसकी सज़ा मुझे दे दी।"

छोटी भाभी ने कहा—"दोनों घटनाएँ साथ-साथ हुईं इसी से तुम्हारे मन में यह बात उठ रही है। बचा तुम्हारा दो-एक साल बाद मरता तो तुम्हें यह ख़याल न होता।"

"नहीं दीदी, मैं अभागिनी पापिनी हूँ, ब्राह्मण के शाप से ही··"

"यह बात न सोचो। बच्चे की और उम्र नहीं थी, इसी से वह तुम्हारा नहीं रहा। और ब्राह्मण तुम किसे कहती हो? गले

में जनेऊ और चक्रवर्ती होने से ही कोई ब्राह्मण हो जाता है ? नहीं बहन, यह गलत है। जो ऐसा पाखण्ड है, वह कभी भी ब्राह्मण नहीं हो सकता और ब्राह्मण होकर जो ऐसा कर्म करे उसकी छाती में एक क्यों, एकसौ बरस तक लगातार लात मारते रहने पर भी पाप नहीं हो सकता। उसका तो जन्म का ही यह स्वभाव है।......उसके बाद क्या हुआ ?"

"उसके बाद न-जाने कब तक वहीं बैठी रही और आकाश-पाताल सोचती रही। तभी बच्चे को हिचकी आने लगी। थोड़ी देर बाद ही वह खूब छटपटा कर सो गया। आखीर रात तक वहीं, उसी तरह बैठी रही। बाद में डर लगा, चक्रवर्ती कहीं यहाँ आकर मुझे पकड़ ले जाय। झटपट उठ खड़ी हुई। उस समय भी कौआ नहीं बोला था, आदमियों का सड़क पर आना-जाना नहीं शुरू हुआ था। बच्चे को हृदय में छिपाकर गङ्गा के किनारे किनारे चल खड़ी हुई। लेकिन तबतक मुझे यह न मालूम न हो सका था कि बर्फ-से ठण्ढे, मरे हुए, बच्चे को ही अब तक मैं गोद में लिये हुए थी।" कहकर वह फिर आँचल से आँख पोंछने लगी।

बिनू दादा ने पूछा—"तुमने तो उस दिन कहा था, महरानी का अनुग्रह हुआ था।"

"और क्या कहूँ भैया ! दिन भर मरे हुए बच्चे को कलेजे में चिपटाये बैठी रही, कितने लोग आये गये कितनों ने देखा, पर किसी ने भी कुछ ध्यान नहीं दिया। शाम तक बैठी रहने के बाद अपने हृदय के धन को अपने हृदय में छिपाकर श्मशान में जा

पहुँची। उस दिन भगवान् ने मुझे न-जाने कहाँ का बल दिया, नहीं तो मैं……"

सब कथा सुनकर बिनू दादा उठ खड़े हुए। मैंने पूछा—"कहाँ जाओगे बिनू दादा ?"

बड़ी भाभी ने कहा—"जलपान ला रही हूँ, खा पीकर बाहर जाना।"

लेकिन, किसी की बात का जवाब दिये बिना ही बिनू दादा धीरे-धीरे बाहर निकल गये।

शाम होते-होते सुना कि किसी ने हारान चक्रवर्ती को मार-कर अधमरा कर दिया दिया है। रात को बिनू दादा घर आये तो मैंने पूछा—"तुमने कुछ सुना है बिनू दादा ?" बिनू दादा ने सिर हिलाकर बताया कि उन्होंने नहीं सुना और उसके बाद ही एक अत्यन्त आश्चर्य-जनक काम करने बैठे अर्थात् स्कूल की किताबें ढूँढ़कर बड़े ध्यान से पढ़ने बैठे। सबेरे कभी-कभी बिनू दादा को पढ़ते मैंने देखा था, लेकिन रात को ऐसे मगन होकर पढ़ना, श्रीराम-पुर आने के बाद से नहीं देखा था। कहें तो यह कह सकते हैं कि घर में बिनू दादा पढ़ते ही न थे। पढ़ने की याद आती थी उनको स्कूल जाकर और बस उतने ही भर, घण्टा बजने के पहले और टिफिन की छुट्टी में ही उन्हें पढ़ने की धुन लग जाती थी।

दूसरे दिन हारान चक्रवर्ती का सब हाल मालूम हुआ। उसके घर में घुसकर लात-घूँसे और थप्पड़ों से उसकी पूजा की गयी थी, चुटिया काट ली गयी थी, धक्के मार-मारकर कपड़े-लत्ते फाड़

डाले और जनेऊ तोड़ डाला था और एक पैर को बिलकुल ही बे काम कर दिया था; और जिसने यह सब काण्ड किया, वह बिनू दादा के सिवा और कोई न था।

बड़े ताऊजी और बड़े भैया घरमें नहीं थे,दो दिन पहले किसी काम से वर्धमान गये थे,लौटने में अभी चार-पाँच दिन कीऔर देर थी।

बड़ी भाभी ने कहा—"बिनू अन्त में तू ऐसा निकला ? आद-मियों का खू.न करना शुरू कर दिया ?"

बिनू दादा ने कहा—"करूँ नहीं तो क्या ? उस साले का खू.न कर पाता तभी ठीक होता।"

"अच्छा, उसके लिए तेरे सिर में इतना दर्द क्यों हो रहा है ?"

"सिर है, इसीसे दर्द होता है; और किसी के सिर होता तो उसके भी जरूर ही दर्द होता।"

बड़ी भाभी ने गुस्साकर कहा—"तू जा यहाँ से चला जा, वहीं कालीघाट में जाकर गुण्डई करना। ठहरो, मैं आजही देवर बाबू से कहकर मैं वहाँ चिट्ठी लिखवाती हूँ। अच्छे भले आदमी के लड़के हो !"

"भले आदमी का लड़का हो सकता हूँ भाभी, लेकिन मैं खुद बिलकुल भला आदमी नहीं हूँ—एकदम बुरा !"

"क्या कहता है रे गधे ?"

सहसा छोटे भैया ने वहाँ पदार्पण करते हुए कहा—"लेकिन गधा जो बात कह रहा है, वह बिलकुल गधे की तरह नहीं है, एकदम इन्सान की तरह है। तुम्हारे 'भले आदमी' का तो शान्त,

शिष्ट, डरपोक और अक्षम,—यही मतलब है न ? अर्थात् बाहर सबका अत्याचार सहकर घर में औरतों के सामने वीरता बखानना और रास्ते-रास्ते दूसरों से अपमानित-तिरस्कृत होकर घर में मुँह छिपा कर जान बचाना, क्यों ?"

थोड़ी देर तक छोटे भैया के मुँह की ओर देखती रहकर बड़ी भाभी ने कहा—"तुम कौन हो जी, क्या कहते हो ?"

"कहता यह हूँ कि बँगाली का कोष उठाकर देखलो, भले आदमी का जो मतलब मैंने बताया, वही है कि नहीं। राह-घाट, रेल-स्टीमर पर तुम लोग जो जाती हो, वह किसके भरोसे ? याद रखना, अपने ही। यदि रास्ते में कोई तुम्हारा हाथ पकड़कर खींच ले जाय, तो तुम्हें बचाने वाला, तुम्हारी रक्षा करने वाला कोई न होगा, करोगी तो तुम स्वयं ही अपनी रक्षा करोगी। भाभी, संसार का कोई भी भला आदमी शायद इतनी लाञ्छना अपमान, गाली-गलौज और अत्याचार इस तरह बर्दाश्त नहीं कर सकता। एक पँजाबी की औरत को कोई हाथ लगा दे, उसका मर्द फ़ौरन् कमर से भुजाली निकाल कर उस पर चढ़ दौड़ेगा, किसी मराठे की औरत पर कोई गोर्खा अत्याचार करे, वह उसी वक्त् उसे भर्ता बनाकर रख देगा। लेकिन……"

"तुमने तो एकदम नाटक की ऐक्टिङ्ग शुरू कर दी देवर बाबू !"

"तब भी अच्छा है भाभी, भला आदमी तो नहीं हुआ। भला आदमी हुआ होता तभी मुश्किल होती। बिनू, खबरदार भला आदमी न बनना। अपने देश के भले आदमियों का और कितना

गुणगान करूँ भाभी ? और ये धार्मिक भी ऐसे हैं, जैसा संसार में कोई नहीं होता। और लोग धार्मिक होते हैं धर्म के लिए, ये लोग धार्मिक होते हैं दूसरों को धोखा देने के लिए। इसीसे इनके द्रव्योपार्जन के समस्त साधनों के पीछे धर्म की दुम लगी रहती है।"

बड़ी भाभी चौखठ पकड़कर खड़ी थीं, वैसे ही खड़े-खड़े उन्होंने पूछा—"अच्छा देवर बाबू, क्या सब ही ऐसे होते हैं ?"

"मैं क्या यह कहता हूँ भाभी ? हम लोगों में जो सचमुच भले हैं, वैसे शायद कहीं नहीं होंगे, लेकिन अधिक संख्या हारान चक्रवर्ती जैसों ही की है। संसार में सभी लोग अपने देश की स्त्रियों की इज्जत करते हैं, और हम ? घाट बाजार में जहाँ औरतें निकलीं, उनको हजार हजार आँखें निगल जाना चाहेंगी। चीन में लड़कियाँ नाव चलाती हैं, उनका सिर खुला रहता, छाती खुली रहती और बच्चा दूध पीता रहता है, वे नाव खेती हैं, कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, उनसे बोलता भी नहीं। सिर्फ उतरते वक्त उनके सामने जाकर भाड़ा दे आते हैं। उस वक्त दोनों के मुँह पर हँसी दीख पड़ती है, पर वह पवित्र और धन्यवादात्मक होती है।"

छोटी भाभी सामने वाले घर में दरवाजे की आड़ में खड़ी होकर सब सुन रही थीं। बड़ी भाभी ने उनकी ओर देखकर कहा—"छोटी बहू, मेरी जगह पर आकर जरा देवर बाबू का लेक्चर सुन जाओ। मुझ में न तो इतना समझने की बुद्धि है, न सुनने की फुर्सत।"

"मुझे भी बाँस के बन में मोती बिखराने की फुर्सत नहीं है भाभी !" कहकर छोटे भैया चले गये। छोटी भाभी ने बाहर आकर कहा—"बात तो ठीक थी। चक्रवर्ती जैसे लोग क्या और नहीं है। अच्छा किया बाबू, तुमने मारा उसको।"

"तो देव-देवी दोनों ही एक मत हो गये ! तो आज से छोटी बहू, तुम बिनू से ही पाठ पढ़ना शुरू कर दो।" कहकर बड़ी भाभी चली जा रही थीं कि बिनू दादा ने उनका रास्ता रोका—"भाभी, क्या सचमुच बाबूजी को यह-सब लिखोगी ?"

"और क्या !"

"तुम्हारे पैर पड़ूं भाभी, मेरी अच्छी भाभी !"

"फिर तो ऐसा नहीं करोगे ? बोलो !"

"अच्छा न करूँगा।"

"मेरा पैर छूकर कहो।"

बिनू दादा ने बड़ी भाभी के पैर छूकर कहा, कि फिर न करूँगा। बड़ी भाभी ने कहा—"अब अखाड़ा-बखाड़ा जाना बन्द करके, मन लगाकर पढ़ोगे ? कहो !"

"पढ़ूँगा भाभी।"

"पढ़ूँगा भाभी नहीं, ठीक कहो।"

"तुम्हारे पैर छूकर कहता हूँ भाभी, फिर भी ठीक ?"

"अच्छे भाई मेरे, अब कुसङ्ग में न घूमते फिरना। तुम बच्चे नहीं हो, अब बड़े हुए। वैसी मति-गति छोड़कर लिखना-पढ़ना सीखो, सुबोध और सुशील बनो।"

"सच कहता हूँ भाभी, अब से मैं सुबोध-सुशील बनने की कोशिश करूँगा, किसी से मार-पीट न करूँगा, किसी को तङ्ग न करूँगा और दूसरे की चीज़ में हाथ भी न लगाऊँगा।"

इसके बाद से सचमुच ही बिनू दादा जरूरत से ज्यादा सुशील हो उठे। अनुकूल मित्तिर के अखाड़े में जाना उन्होंने छोड़ दिया और बड़े मनोनियोग से पढ़ना-लिखना शुरू कर दिया। फलतः अगली परीक्षा में बिनू दादा प्रथम श्रेणी में पास हुए और फिर जो उन्होंने पढ़ने का तार लगाया, वह एकदम एन्ट्रेन्स की परीक्षा दे आने के बाद ही टूटा।

---

[१३]

चैत का महीना बीत रहा था। गाँव के कृष्ण-शिखर वृक्ष रङ्गीन हो उठे थे और अपने रङ्ग से जैसे धरित्री को भी रँग डालना चाहते थे। अशोक के वृक्ष पर पिचकारी मारकर कोई होली खेल गया था। काली कोयल लाल रङ्ग की यह बहार देख कर जल उठी थी और पेड़ की डाल-डाल पर कूकती फिरती थी। उसकी कूक को गाँव-गाँव और मुहल्ले-मुहल्ले में बज उठने वाले नगारे के शब्दों में छिपा दिया था और उस शब्द से मनुष्य के मन-प्राण भी उन्मत्त होकर नाच उठने लगे थे।

हमारी परीक्षा समाप्त हो गई थी। चैत का महीना होने के

कारण ताऊजी हम लोगों को कालीघाट न ले जा सकते थे। बैशाख शुरु होते ही हमलोग कालीघाट चले जायँगे।

इसी समय छोटे भैया ने एकदिन कहा—"कल मैं गाजन का मेला देखने तारकेश्वर जाऊँगा, तुमलोग भी चलोगे?"

हमलोगों ने सम्मति जताई।

दूसरे दिन नौ बजते-बजते भोजन आदि समाप्त करके हम-लोग तारकेश्वर के लिए रवाना हुए। वहाँ पहुँचने पर वहाँ की भीड़ देखकर यह मालूम हुआ कि बङ्गाल के सभी आदमी उसदिन वहीं इकट्ठे हो गये थे। सारा दिन घूमने और तमाशा देखने में बिताकर शाम होते-होते हमलोग स्टेशन की ओर चले। रास्ते में छोटे भैया के एक पुराने सहपाठी मिल गये। रास्ते के एक ओर खड़े होकर भैया उनसे बातें करने लगे यह देखकर हमलोग दूसरी ओर एक पाँच पैर वाली गाय देखने चले गये। तीन-चार मिनट बाद लौटकर देखा, छोटा भैया जहाँ खड़े होकर बातें कर रहे थे, वहाँ कोई नहीं है। उस जन-स्रोत में हम लोगों ने चारो ओर ढूँढ-खोज की, पर कुछ पता न चला। कुछ दूर तक पीछे लौटकर पता लगाया, पर निष्फल हुआ। अँधेरा धीरे-धीरे घना होता आ रहा था। एक पहर रात तक हमलोग इसी तरह स्टेशन से मन्दिर और मन्दिर से स्टेशन तक छोटे भैया को ढूँढते रहे, लेकिन किसी जगह उनको न पाकर आखीर में थककर मैदान में एक पेड़ के नीचे हमलोग बैठ गये।

जहाँ हमलोग बैठे उसके पास ही कुछ गेरुआ-धारी लोग

भीड़ जमा करके गीत गा रहे थे। बिनू दादा ने कहा—"चल वहीं बैठे-बैठे गाना सुना जाय, छोटे भैया के साथ फिर कभी कहीं न जायँगे !"

उस समय लोगों की भीड़ धीरे-धीरे कम हो रही थी। जो लोग गीत गा रहे थे, संख्या में छः थे। पाँच-सात हाथ लम्बे एक बाँस में साइनबोर्ड लगा था। उसपर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—'श्रीकृष्ण गौराङ्ग समाज'। उसके नीचे छोटे अक्षरों में लिखा था—'श्री गौराङ्ग की सेवा में यथासाध्य दान करके पुण्य सञ्चय कीजिए।' 'गौराङ्गों' में सभी के शरीर का रङ्ग घोर कृष्ण वर्ण था। दो-तीन के सिवा और सबों की छाती पर लम्बी दाढ़ी भूल रही थी और वह उनके शरीर की ही तरह शुष्क, शीर्ण और विवर्ण थी। सबों ने गेरुआ वस्त्र पहन रक्खा था और माथे पर भी एक गेरुआ रङ्ग की चादर बाँध रक्खी थी, लेकिन वह इतनी मैली थी कि जिसका नाम !

सभी खड़े-खड़े चिल्लाकर गीत गा रहे थे। एक आदमी के कमर पर गले से लटकी हुई हार्मोनियम भूल रही थी। सुनने वालों में से जो लोग धर्म के लिये 'यथासाध्य दान करके पुण्य सञ्चय' कर रहे थे, उनके पैसे सामने बिछी हुई एक चादर पर गिरकर इकट्ठे हो रहे थे। गीत समाप्त होने पर सभी श्रोता जब चले गये, तो वे लोग बैठकर अपनी दिनभर की कमाई गिनने लगे। इसी समय उनमें से एक ने हमलोगों की ओर देखकर पूछा—"आपलोगों का घर कहाँ है बाबू ?" बिनू दादा ने कहा—

"यहाँ से दो सौ कोस दक्खिन, हरिहरपुर में; यात्रा के दलमें नौकरी करने के इरादे से घर से निकले हैं।" जो हार्मोनियम बजा रहा था, उसने अपनी चादर से मुँह का पसीना पोंछते हुए कहा—"तुम लोग गीत गा सकते हो?"

बिनू दादा ने कहा—"गीत सिर्फ मैं ही गा सकता हूँ और यह व्याख्यान देने में होशियार है, शिबूहारी के दल में बराबर कृष्ण बनता था। साथ-साथ गा भी लेगा।" जिस मुश्किल से मैंने हँसी रोक रक्खी थी, वह भगवान् ही जानता है। उसने कहा "अच्छा, अच्छा, गाओ तो एक गीत, देखूँ कैसा गाते हो।" कहकर वह हार्मोनियम पर सुर देने लगा। बिनू दादा ने बिना किसी आनाकानी के साथ-ही-साथ गाना शुरू कर दिया—

कन्हाई, क्या समझा जो गौर हुआ तू
ब्रज के लोग विकल!
ब्रज के लोग विकल हैं सब ये
नदे * छोड़कर चल!

उस समय सभी हमीं लोगों की ओर दत्तचित्त हो रहे थे। बिनू दादा गाने लगे—

माँ यशुदा भी बिना अहारे
बैठी होंगी राह किनारे
धवलि-श्यामली गिरा रह हैं

---

* नदिया, गौराङ्ग महाप्रभु का क्रीड़ा-स्थल।

निज नयनों से जल !

कन्हाई- ब्रज के लोग बिकल !

गीत खतम होने पर एक ने कहा—"यात्रा के दल में जाने से क्या लाभ ? तुमलोग हमारे ही साथ काम करो।"

बिनू दादा ने कहा—"क्या हर्ज है, लेकिन महीना क्या मिलेगा ?"

"यहाँ महीने के हिसाब से काम नहीं होता। रोज जो आमदनी होगी, उसमें से चार आना तो हेड आफिस में जायगा, बाकी बारह आने में से खा-पी कर जो बचेगा, उसीमें हम-लोगों का हिस्सा होगा।"

"बराबर हिस्सा ?" मैंने पूछा।

"यह कैसे हो सकता है। जो लोग नये हैं, उनको कम हिस्सा मिलता है। तुमलोग अगर जी लगाकर काम करोगे तो खा-पी-कर महीने में पाँच-छः रुपया बच रहेगा। थोड़े दिनों के बाद और भी पाने लगोगे। और ज्यादा होना-न-होना तो हमीं लोगों पर है। जितना घूम सकेंगे, उतनी ही आमदनी होगी। हरेक दल में आठ आदमियों के घूमने का नियम है। हमलोग भी आठ ही आदमी थे।"

बिनू दादा ने पूछा—"दो आदमी छोड़कर चले गये शायद?"

एक छोटे हुक्के को लेकर तमाखू पीते-पीते एक ने कहा—"हाँ, एकदम से जन्म भर के लिये।" कहकर हा-हा करके वह हँसने लगा। जो बिनू दादा के साथ बात-चीत कर रहा था, उसने

कहा—"नवाबगञ्ज के मेला से लौटते समय रास्ते में उन दोनों को हैजा हो गया, बस······"

उधर एक ओर एक मिट्टी की कलसी में एक जने सिद्धि का शर्बत तैयार कर रहे थे। तैयार होने पर एक-एक ग्लास सबने पिया। एक ग्लास लाकर हमारे सामने भी रक्खा—"बाँटकर पी जाओ दोनों जने। थकावट मिटेगी, जी हल्का होगा, नींद आवेगी, भूख लगेगी,···।"

बिनू दादा ने कहा—"दिनभर से कुछ खाया नहीं, भूख तो अभी लग रही है खूब!"

"लगी है? अच्छा, दो-एक आने की मिठाई खरीद कर खालो तुमलोग। दे तो दो इनको दो आने पैसे।······तो, हम लोगों के साथ काम करने को राज़ी तो हो? मन लगाकर काम करो—देखना जल्दी ही उन्नति हो जायगी।"

बिनू दादा ने कहा—"उन्नति की आशा जब है तो हमलोग यहीं रहेंगे।······तो हमलोग अभी बहाल हो जायँगे कि हेड आफिस से लिखा-पढ़ी करनी पड़ेगी?"

"अजी कहीं कुछ नहीं। यहाँ का सब भार मेरे ही ऊपर है। हमलोगों के इक्कीस दल हैं, इक्कीस जगह घूमते हैं। सबको अपने अपने दल का अधिकार रहता है।

बिनू दादा दो आने की कचौरी-मिठाई ले आए। भूख उससे बुझी तो नहीं और धधक उठी; लेकिन रात्रि के फलहार का भारी भरकम आयोजन देखकर मनको थोड़ा सन्तोष हुआ और उस दो आने के जलपान को ही हमलोगों ने बहुत समझा।

बिनू दादा के तंग करने पर दो घूँट विजया मैंने भी पिया—बाकी सारा ग्लास बिनू दादा सोख गये। सौ-बात-की-बात हम लोग उनके दल-मुक्त हो गये।

खाने-पीने के बाद सोने की व्यवस्था हुई। सब लोगों ने अपनी अपनी चादर जमीन पर बिछाई और उसी पर सो गये। हमलोगों को भी एक चादर मिली। इन्चार्ज ने कहा—"कल तुमलोगों के लिये कपड़े-लत्ते का इन्तजाम हो जायगा। आज इसीसे काम चलालो किसी तरह।"

बिनू दादा ने कहा—"आपलोग सोवें—हमलोग जरा बाहर जायँगे।"

"इस वक्त बाहर क्या काम है? रात हो गयी है, सो जाओ; सबेरे फिर उठना पड़ेगा।"

एक दूसरे ने कहा—"चुरुट-उरुट पीयेंगे शायद, तो यहीं पी लो, उसमें कुछ हर्ज थोड़े है!"

इञ्चार्ज ने कहा—"अच्छा जाओ, लेकिन जल्दी लौटना।"

चुप चुप मेरा दम घुटा जा रहा था। बाहर आकर मैंने बिनू दादा से कहा—"तुम कैसे आदमी हो? परदेश में आकर ऐसी आपत्ति में पड़े और तुमको कुछ फिक्र ही नहीं है। तुम तो…"

"फिक्र करके ही तुम क्या कर लोगे? पास में पैसा कौड़ी तो है नहीं कि टिकट कटाकर श्रीरामपुर चले चलेंगे। छोटे भैया की अक्ल तो देखो।"

"और तुम्हारी ही अक्ल का क्या कसूर है?……लेकिन अब
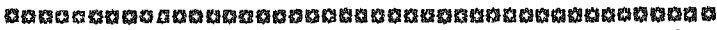
कोई उपाय करोगे कि भाँग पीकर और फलाहार खाकर और गेरुआ पहन कर कृष्ण-गौराङ्ग के दल में गीत गाते फिरोगे ?"

"अरे, आज रात को कहीं-न-कहीं तो सोना ही होता, कुछ खाना भी होता। तो यह क्या बुरा हुआ ?"

दूसरे दिन सवेरे इञ्चार्ज ने कहा—"आज हमलोग इसी वक्त से गाना शुरु कर देंगे; फिर सवेरे ही खा-पीकर चल देंगे।"

"कहाँ जाना होगा ?"

"त्रिवेणी के मेला में। वहाँ ५, ७ दिन रहना पड़ेगा।...... तब तक तुम एक काम कर सकोगे ?"

"क्या काम ?...कर क्यों न सकेंगे ?"

"और कुछ नही, थोड़ा-सा चावल-दाल, शाक-भाजी ले आ कर रख दो।" कहकर उसने बिनू दादा को दो रुपये दिये। कहा—"ला सकोगे न ?"

बिनू दादा ने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा।

कुछ देर बाद जब गौराङ्ग, समाज का गीत आरम्भ हुआ तो मुझे लेकर बिनू दादा बाहर निकले और बाजार न जाकर मेरे साथ सीधे स्टेशन पहुँच कर उन्होंने श्रीरामपुर के दो टिकट लिये। गाड़ी प्लेटफार्म पर खड़ी थी। मुझे लिये वे एक कमरे में घुस गये और कहा—"खबरदार, बाहर की ओर न देखना। कहीं उन सबों ने देख लिया तो......। गाड़ी छूटती कब है, जरा पूछ आता तो ठीक होता।"

उसी समय मैंने देखा छोटे भैया प्लेटफार्म पर किसी को
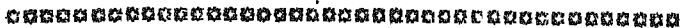
ढूँढते हुये घूम रहे हैं। "यह रहे छोटे भैया" कहकर मैं उतरने ही जा रहा था कि धक्का मारकर बिनू दादा ने मुझे बैठा दिया। कहा—"उतरो मत, यहीं से पुकारो।"

वैसा ही किया। छोटे भैया गाड़ी के अन्दर आकर बोले—"अच्छे लड़के हो तुमलोग! सारी रात खोजकर हार गया।.. तुमलोग थे कहाँ?"

मैंने कहा—"अच्छे लड़के हमलोग हैं कि तुम, छोटे भैया? दस बजे रात तक ढूँढते-ढूँढते......"

"अच्छा, हुआ-हुआ। पहले टिकट तो तीन खरीद लाऊँ, गाड़ी छूटने में अब देर नहीं है।

बिनू दादा ने कहा—"हमलोगों ने तो अपना टिकट खरीद लिया है, तुम अपने ही लिये खरीदना।"

"तुमलोगों ने टिकट खरीद लिया है! कैसे? पैसे किसने दिये?"

"श्रीकृष्ण गौराङ्ग ने।"

"श्रीकृष्ण गौराङ्ग ने?"

"हाँ। तुम टिकट खरीद लाओ, फिर बातें होंगी।"

छोटे भैया गाड़ी से उतरकर टिकट खरीदने चले गये।

हम लोग जब बँगला स्कूल में पढ़ते थे, पण्डित जी ने एक दिन स्वास्थ्य का पाठ पढ़ाया—पाँच सफे का। कहा कि उसे याद कर लाना। हम लोगों ने शोर मचाया इतना हमें किसी तरह याद नहीं हो सकता। उन्हों ने कहा संक्षेप में याद करना, लेकिन संक्षेप का मतलब भी तीन सफ़ा से कम न था। तब उन्हों ने कहा—अच्छा खूब संक्षेप में याद करना। तब हम लोगों ने उन्हीं से संक्षेप भी कर देने को कहा। अन्त में पाँच सफे के उस स्वास्थ्य-पाठ का संक्षेप उन्हों ने लिखवाया तीन लाइनों में—सबेरे उठकर शौचादि से निवृत्त होकर हाथ-मुँह धोओ और स्नान करो। दाँत साफ करने के लिए दातुन ही सर्व श्रेष्ठ साधन है, दातुनों में नीम की दातुन अच्छी होती है।" बहुत दिनों के बाद मुझे पण्डितजी के उस संक्षिप्त-सार की बात याद आ रही है। आज हम भी उसी संक्षेप-प्रणाली का अवलम्बन करेंगे और श्रीरामपुर छोड़ने के बाद से आठ-दस साल की कथा उसी प्रकार संक्षेप में कह देंगे और उसके लिए सिर्फ हमें इतना ही कहना पड़ेगा कि बिनूदादा और मैंने बी० ए० पास करके सरस्वती-माँ का इलाक़ा छोड़दिया है। दादी और पिता जी का देहान्त होगया है। ताऊ जी गृहस्थी का भार हम लोगों पर छोड़ कर काशीवास कर रहे हैं। माँ

कभी कालीघाट, कभी रायपुकूर कभी काशी में रहती हैं। हम दोनों का ब्याह हो गया है लेकिन ब्याह के दो-तीन साल बाद ही, आज चार-पाँच वर्ष हुआ, एक कन्या प्रसव के समय बिनू दादा की पत्नी इहलोक त्याग कर चुकी हैं। उसके बाद सब-लोगों ने बिनू दादा को दूसरा ब्याह करने को बहुत कहा-सुना, पर उन्हों ने किसी की न मानी और कामिनी-काञ्चन-त्यागी एक गुरु के शिष्य बनकर दिन-रात पूजा-पाठ में समय बिताने लगे हैं और उनका हाल चाल देख कर यही जान पड़ता है कि थोड़े दिनों में घर-बार छोड़ कर ये सन्यासी हो जायँगे। खासकर जब वे कुश्ती लड़ कर उठने के बाद पद्मासन लगाकर योग के आसन करने लगते थे, तब उन्हें देखकर यही मालूम होता था कि ये कोई महा योगी परमहंस हैं।

शाम होने से कुछ पहले मेरी स्त्री सन्ध्या मेरे लिए जलपान लेकर आयी और पास बैठ कर कहने लगी—"पास के घर का वह आदमी आज भी छत पर घूम-घूम कर मेरी ओर देखकर हँस रहा था।"

"तब तो उस आदमी का स्वभाव-चरित्र बड़ा बुरा मालूम पड़ता है। वह उन लोगों का कौन है, तुम जानती हो ?"

"शायद मालकिन का भाई-वाई होगा; मालिक बीमार हैं न, उन्हीं को देखने आया होगा।"

"मुझे तो मालूम पड़ता है कि उसे भी महा-भयानक रोग है और इसके लिए शायद हम लोगों को उसे देखना पड़ेगा।"
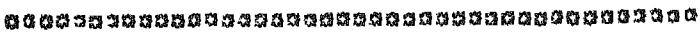
बात शायद बिनू दादा ने अपने कमरे से सुन ली थी, पुकार कर कहा—"कौन है रे पञ्चू ?"

"बग़ल के मकान का वही आदमी।"

"आज भी कुछ कर रहा था क्या ?"

"सुन तो रहा हूँ।"

सवुची मछली की पूँछ का चाबुक लेकर बिनू दादा धड़धड़ नीचे उतर गये। सन्ध्या ने कहा—"भाई जी चाबुक लेकर नीचे गये हैं, कहीं मार-पीट न बैठें उसे। जाओ, उन्हें बुला लो, अच्छी तरह समझा कर कह देने से ही काम चल जायगा।" जलपान करके और मुँह में पान का एक बीड़ा रखकर मैं झटपट नीचे उतर गया।

हमारे मकान के बग़ल वाला मकान जोड़ासाँको के मित्तिर लोगों की सम्पत्ति है, बराबर किराये पर उठता है। दो-तीन महीने से उसमें जो एक नये किरायेदार आये हैं, वे एक पेन्शन-याफ्ता सब जज हैं। पति-पत्नी दो ही जने हैं और दास, दासियाँ हैं। लड़का है ही नहीं, एक लड़की है वह काशी में या कहाँ अपने मामा के साथ रहती है।

नीचे आकर देखा बिनू दादा चाबुक लिये सीधे इन्हीं के मकान की ओर चले जा रहे हैं। मैं भी साथ-साथ गया और लोहे का दरवाजा खोलकर अन्दर पहुँचा। बाहर का कमरा खुला ही था, घुसते ही अठारह उन्नीस साल की एक लड़की ने आकर मुस्कराते हुए कहा—"लेकिन शिकार आपका हाथ से निकल गया है। चाबुक लेकर मेरे मामा को मारने ही आये हैं न आप ? अब तक वे शायद

बंगाल की मिट्टी छोड़ कर सौंताल परगना में पहुँच चुके हैं।"

"बैठिये" कह कर उसने गोल-मेज़ के पास दो कुर्सियाँ खींच लीं। रंग उसका साँवला था, मगर चेहरे में कुछ ऐसी बात थी कि देखने वाले को देखते ही रह जाने का जी होता। वह विवाहिता है या अविवाहिता, या विधवा, यह जानने का कोई उपाय न था। अविवाहिता तो शायद थी नहीं, क्यों कि हिन्दू-गृहस्थके घर में अठारह उन्नीस साल की लड़कियाँ बहुधा अविवाहित नहीं देखी जातीं; और, ये लोग हिन्दू हैं, इस बात का परिचय मुझे मिल चुका है। उसके वस्त्रालंकारों से न तो यही मालूम होता था कि वह सधवा है और न विधवा ही।

मद्रासी साड़ी से आँचल को उँगली में लपेटते-लपेटते उसने कहा—"बड़ा आश्चर्य हुआ आपको?—क्यों? कैसे मैं आपके मन की बात जान गयी?...लेकिन जान गयी कि नहीं, बताइये तो?"

लड़की बड़ी तेज़-तर्रार है, इसमें तो कोई शक ही नहीं। किसी अपरिचित व्यक्ति के सामने कोई भले घर की लड़की इस प्रकार सङ्कोच-हीन भाव से बात चीत कर सकती है, यह मुझे मालूम न था, फलतः मैं कुर्सी पर बैठ कर मन ही मन बहुत अचरज मानने लगा। कदाचित बिनू दादा की भी यही हालत थी। उसके मुँह की ओर देख कर पूछा—"आप उन की कौन होती हैं?" 'उनसे' अभिप्राय था गृहस्वामी से।

"लड़की।......लेकिन आप मुझे 'आप' न कह सकेंगे, मेरा नाम लेकर ही मुझे पुकारिये। नाम है मेरा सीता।"

"सीता ?" कह कर विनू दादा क्षणभर उसके मुँह की ओर देखते रहे; फिर बोले—"आप क्या काशी में...?"

"धन्यवाद। आप इतने ही समय में मुझे भूल जायँगे, इस की मुझे आशा न थी, लेकिन मैं आपको बिलकुल ही नहीं भूल सकी हूँ। लेकिन आपके भूलने और मेरे भूलने में फर्क है। बदमाशों के हाथ से आपने मेरी रक्षा की, फलतः आपको मैं जन्म-भर याद रक्खूँगी, लेकिन उपकारी के मन में उपकृत की याद नहीं रह सकती, रहती भी नहीं।"

"सचमुच ही आपने पहले मुझे चौंका दिया था सीता !"

"नाम तो आपने लिया, लेकिन 'आप कहना अभी भी नहीं छोड़ा। इस तरह तो हमारी आप से न निभेगी"

"तुम्हें भूल जाने का अपना अपराध मैं स्वीकार करता हूँ, लेकिन वह बहुत बड़ा अपराध है, यह नहीं मानता क्योंकि अब तुम पहले से बहुत......"

"रोगिणी हो गयी हूँ।"

"सिर्फ रोगिणी ही नहीं, काली भी पड़ गयी हो।"

मधुर हँसी का कल्लोल-कलरव फैलाती हुई सीता ने कहा—"ओ हो! दूध सा मेरा रँग काला पड़ गया है, क्यों ?"

"दूध-सा चाहे न रहा हो, लेकिन काला भी उसे नहीं कहा जा सकता।"

"तो क्या कहा जा सकता है ?"

"श्यामवर्ण,—नहीं, श्यामवर्ण भी ठीक नहीं है, अर्थात्..."

"अर्थात् जिसको विवर्ण कहते हैं। खैर, वर्ण के लिये इसवक्त मग्जपची करने की जरूरत नहीं है बिनू बाबू ! अब जब कोई काव्य-उपन्यास लिखिएगा तो इस विषय पर विशद विवेचना कर कर लीजिएगा।......हाँ, रोगिणी मैं जरूर हो गयी हूँ। लेकिन इसमें मेरा दोष ही क्या है? बाबूजी की तबीयत खराब है, दिन-रात मुझे उन्हीं के पास बैठा रहना पड़ता है। माँ के तो हाथ-पैर ही नहीं चलते। भय, दुश्चिन्ता और उत्कण्ठा से मैं भी क्या-कुछ हो गयी हूँ, यह आपसे क्या कहूँ! भगवान् न-जाने क्या करेंगे।" सीता का प्रफुल्ल मुखमण्डल क्षणभर में विषाद के काले बादलों से भर गया। उसकी दोनों बड़ी-बड़ी स्निग्ध आँखों में जल भर आया। दीवार की ओर फिरकर उसने आँखें पोंछ ली। कहा—"अभी थोड़ी देर हुआ सोये हैं, तब मुझे फुर्सत मिली है।"

"तुम्हें क्या तकलीफ है सीता?"

क्षणभर पहले जिसके सरल-मधुर आलाप और प्रफुल्लता से मन-प्राण मुग्ध विह्वल हो रहे थे, अब उसका वेदनाप्लुत विमर्ष मुँह देखकर मन-ही-मन में एक प्रकार की वेदना का अनुभव करने लगा। सीता ने कहा—"बाबूजी को बुखार है और पेट की शिकायत। लक्षण अच्छे नहीं हैं। मालूम पड़ता है, बाबूजी अब बचेंगे नहीं; इसी से कभी-कभी मुझे इतना डर लगता है कि क्या कहूँ! आपलोग कभी-कभी चले आया करेंगे बिनू बाबू?" उसके बाद मेरी ओर देखकर उसने कहा—"आपलोग क्यों कहा, यह शायद आप समझ गये होंगे! अर्थात् आप और आपके भाई

साहब अगर बीच-बीच में आकर हमलोगों की देख-रेख कर जाया करें तब भी हमें जरा सहारा हो! कहिए, आप आवेंगे पंचूबाबू ?"

मैंने कहा—"आप चिन्ता न करें; हमलोग रोज आकर आपके पिता जी को देख जाया करेंगे,लेकिन आप मेरा नाम कैसे जान गयीं ?"

सीता के ओठों पर फिर हँसी खिल उठी। बोली—"मैं मामा के साथ काशी में ही बराबर रहती हूँ, वहीं पण्डितों से ज्योतिष शास्त्र पढ़ लिया है।" इसके बाद वह खिलखिलकर हँसने लगी। क्षणभर चुप रहकर फिर बोली—"मेरी और आपकी नौकरानी एक ही घर में रहती है। काशी से यहाँ आकर जिस दिन पहले-पहल बिनू बाबू को मैंने देखा, उसी दिन अपनी नौकरानी से पूछ कर सब पता लगा लिया था। पिताजी अच्छे होते तो मैं अबतक आपके घर हो आयी होती। लेकिन आज घर बैठे ही आपलोगों के दर्शन का सौभाग्य मैंने पा लिया। भाग्य से ही मेरे मामा छत पर घूमते-घूमते आपकी पत्नी की ओर देख रहे थे।

मैंने कहा—"लेकिन एक भले आदमी के लिए क्या यह—"

"बिलकुल अच्छा नहीं है, लेकिन आपकी पत्नी या आपलोगों ने मामाजी को बिल्कुल ही गलत समझा है। मामा के बारे में सब बातें सुन लेने पर उनपर आपको क्रोध न आयेगा, बल्कि आप भी हमारी ही तरह हँसेंगे।" कहकर फिर एक गम्भीर हास्य के रोल से कमरे को गुँजाती हुई सीता बोली—"लेकिन मेरे मामाजी जैसे दुर्बल और बीमार आदमी के लिए कुश्ती लड़ने-वाले पहलवान का एक थप्पड़ ही काफी था, इस चाबुक की क्या

जरूरत थी ?" उसके कल-हास्य से कमरा गूँज उठा, दूसरे ही क्षण घड़ी की ओर देखकर वह घबरायी हुई-सी उठी—"बाबूजी को दवा खिलाने का वक्त हो गया है; आपलोग जरा देर रुकें, अभी आती हूँ।" वह अन्दर चली गयी।

सीता के चले जाने पर किसी जरूरी काम का बहाना करके बिनू दादा भी बाहर चले गये। मैं कमरे में अकेला बैठा-बैठा कमरे की सजावट देखने और उसके सजाने के ढंग को देखकर गृह-स्वामी की रुचि की प्रशंसा करने लगा। प्रायः पन्द्रह मिनट बाद ही सीता ने आकर कहा—"ओ हो, अकेले ही बैठे हैं! भाई साहब भाग गये हैं शायद!"

मैंने कहा—"बिनू दादा को कोई जरूरी काम था, इसी से वे चले गये।"

"उनके जरूरी काम का तो मुझे पता है। उस रात को भी आपके बिनू दादा को बहुत जरूरी काम था, लेकिन उस विपत्ति से मेरी रक्षा किये बिना फिर वे कहीं न जा सके। न मालूम आपने वह घटना अपने बिनू दादा से सुनी है या नहीं, पर इस जीवन में मैं उसको कभी न भूल सकूँगी।"

"मैंने तो कुछ नहीं सुना। क्या हुआ था ?"

"आप सुनेंगे ? अच्छा; मैं कहती हूँ।"

सहसा सीता कुर्सी पर से उठ खड़ी हुई और भीतर के दरवाजे के चौखट पर पैर रखकर कान लगाकर न जाने किसकी आहट लेने लगी। दूसरे ही क्षण वह लौट आयी और कुर्सी खींच

कर बैठी। बोली—"बाबूजी की बीमारी के कारण मनमें हमेशा शङ्का बनी रहती है। पञ्चू बाबू, कभी-कभी मनमें ऐसा होता है कि बाबूजी अब न बचेंगे। घर में मर्द कोई है नहीं, मौसाजी भवानीपुर में रहते हैं, शाम-सवेरे वही आकर देख-सुन जाया करते हैं। लेकिन, न-जाने-क्यों आज वे भी नहीं आये।......खैर, मैं क्या कह रही थी। सुनिए, कहती हूँ। मामा मेरे बहुत दिनों से काशी में रहते हैं। वहीं कालेज में प्रोफ़ेसर हैं। प्रोफ़ेसर हैं, इस-लिए सिर्फ़ लड़कों को पढ़ाते हों, केवल यही नहीं बल्कि वे स्वयं भी एक विद्यार्थी हैं। दिन-रात शास्त्र-चिन्ता में ही मग्न रहते हैं। पढ़ते-पढ़ते और सोचते-सोचते उन्होंने अपना दिमाग़ ख़राब कर लिया है। वे तो मुझे भी अपना चेला बनाए ले रहे थे, लेकिन मैंने देखा, उनका तो निभ जायगा, मेरा न निभेगा, इसीसे असबाब-पत्र समेटकर मैंने उनकी पाठशाला से बिदाई ले ली।" कहकर सीता खिलखिलाकर हँसी, फिर बोली,—"ऐसा अजीब आदमी किसी ने कभी न देखा होगा। इसका प्रमाण यह है कि दो दिन के लिए यहाँ आए तो छतपर घूमकर आपकी स्त्री से न-जाने-कितना हँसी-इशारा कर गए! लेकिन मजे की बात यह है कि अगर उनसे पूछा जाय कि इस मकानके दूसरी ओर आपका घर है कि मैदान आदिगङ्गा, कि जङ्गल, कि धान का खेत, तो वे शायद आपका मुँह देखते रह जायँगे। यहाँ आकर वे कभी छतपर गये भी थे या नहीं, सम्भव है, वे यह भी न बतला सकें।...मेरा ख्याल है, अब आप सब बातें समझ गये होंगे।" कहकर सीता फिर हँसने लगी।

मैंने पूछा—"आप शायद बराबर मामा के यहाँ रहती थीं?"

"हाँ, बिलकुल बचपन से। बाबूजी जिस समय मुंसिफ थे, उन्हें सात जगह घूमते रहना पड़ता था; इसीसे हमेशा मुझे मामा के ही यहाँ रहना पड़ा, मामा ही के यहाँ मैं आदमी हुई, थोड़ा-बहुत जो पढ़ना-लिखना सीखा है, वह भी उन्हीं से।"

"ऐसे मामा ने जब बचपन से आपको अपने पास रखकर लिखना-पढ़ना सिखाया है तो निश्चय ही आप······"

"हाँ, एकदम दिग्गज हूँ, अर्थात् बी, सी, डी, एस, एन, ओ, पी, भारती, विद्यालङ्कार, काव्यशास्त्र-घड़घड़ी" कहकर सीता हो हो करके हँसने लगी।

"अच्छा, बीच में कोई हार्मोनियम पर गीत गा रहा था। वह निश्चय ही आपका स्वर था।"

"झूँठ क्यों बोलूँ पञ्चू बाबू? भले आदमियों के घर में गधे नहीं पलते—आवाज मेरी ही थी। परसों बाबूजी की तबीयत कुछ अच्छी थी। उन्होंने भगवान् का नाम लेने को कहा, इसीसे मैं उस दिन रेंक रही थी।···खैर, मैं कह रही थी कि मैं काशी में मामा के पास ही बराबर रहती हूँ। सबेरे-शाम को मन्दिर में जाने का मुझे रोग-सा है। उसदिन मामाजी किसी काम से बिन्ध्याचल गये हुए थे, मैं सीताराम नौकर को लेकर शाम होने के कुछ ही देर बाद विश्वनाथ की आरती देखने गयी। घर में कोई था नहीं इससे मामी मेरे साथ नहीं जा सकीं। न-जाने क्यों उसदिन मन्दिर में बड़ी भीड़ थी और आरती देखकर जब मैं बाहर निकली तो रात भी बहुत

हो गयी थी। मन्दिर ही की तरह उसदिन विश्वनाथजी की गली में भी बड़ी भीड़ थी। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर जब मैंने पीछे मुड़कर देखा तो सीताराम का कहीं पता न था। जर्मनसिलवर की एक दूकान की बग़ल में खड़ी होकर मैं उसकी इन्तजार करने लगी। मैंने सोचा था कि वह भीड़ में कहीं पीछे छूट गया है, लेकिन बहुत देर तक खड़ी रहने पर भी मुझे उसका कोई पता न लगा।"

"आप तो काशी में बहुत दिनों से रहती हैं, आपको रास्ते सब मालूम ही होंगे।"

"सब चाहे न हों, पर बहुत से रास्ते मेरे परिचित थे, खासकर विश्वनाथजी की गली; फिर भी अकेले घर चली आने की हिम्मत न हुई। प्रायः पन्द्रह मिनट तक वहीं खड़ी रहने के बादमैं फिर मन्दिर ही की ओर बढ़ी, लेकिन उसका कहीं पता न मिला। उस समय मुझे क्या मालूम था कि सीताराम भी एक गुण्डा ही है।"

"आपके यहाँ वह कितने दिनों से था?'

"नया ही था—सिर्फ़ बीस-पचीस दिन पहले आया था।"

"फिर क्या हुआ?"

"उसके बाद मैं उसे ढूँढ़ती-ढूँढ़ती थोड़ा आगे बढ़ गयी। उसी समय पण्डे-जैसा एक आदमी मेरे सामने आया। बोला—"मालूम होता है, आपका नौकर खो गया है! वह आपको उधर ढूँढ़ रहा है। चलिए आपको पहुँचा दूँ वहाँ। कुछ डर नहीं है।"

"और आप उसके साथ चली गयीं? इतने दिनों तक काशी में रहने पर भी......"

"यही तो मैं भी सोचती हूँ। कैसे मैं उसकी बातों पर विश्वास करके उसके साथ चली गयी और कुछ भी न सोचा-विचारा !"

"नौकर आकर मेज पर लैम्प रख गया। सीता ने उसको पुकारकर कहा—"अक्षय ! मैं रोज तुमसे कहती हूँ कि पहले गंगाजल देकर तब चिराग़ जलाया करो और तुम ख़्याल ही नहीं करते !"

मैंने पूछा—"उसके बाद क्या हुआ ?"

"उसके बाद, उसके साथ चलते-चलते मैं यही सोचने लगी कि इसके साथ जाना ठीक है या नहीं ! लेकिन, मैं सोचती भी गयी और उसके साथ चलती भी गयी—न जाने कौन मुझे जबरदस्ती उसके साथ ले जाने लगा। अन्त में जब मुझे होश हुआ तो मैंने देखा कि मैं उसके साथ एक ऐसी गली में आ गयी हूँ, जहाँ अबके पहले कभी न आयी थी। गली एकदम निर्जन थी, आदमी का कहीं चिन्ह भी नहीं था। तब मुझे काशी की एक श्रेणी के लोगों की याद आयी। डर से मैं काँपने लगी। शायद मैं चिल्लाने ही जा रही थी कि पीछे फिरकर उसने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिये। मुँह की बात मुँह में ही रह गयी। हाथ पकड़कर उसने कहा—"क्यों बीबी साहब, बड़ा डर लगता है ?" इसी समय न-जाने किधर से दो और आदमी निकल आये और एक चादर से मेरा मुँह बाँधने लगे। मुझे उस वक्त ग़श आ रहा था। लेकिन, सहसा इसी समय भगवान् ने जिस मूर्ति में आकर मेरी रक्षा की, जीवन में उस मूर्ति को मैं कभी न भूल सकूँगी। उनके चरणों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है; उस समय मेरे लिए बिनू

बाबू ही साक्षात भगवान् हुए" कहकर सीता बार-बार हाथ जोड़कर प्रणाम करने लगी।

"उसी समय शायद बिनू दादा आ पहुँचे ?"

"आ नहीं पहुँचे; भगवान् ने उन्हें भेज दिया। खाली पैर, शरीर पर एक चारखाने का कुर्ता, चादर माथे पर बंधी हुई। दूर से उनको देखते ही मैं चिल्लायी-"रक्षा कीजिए।" मेरी आवाज सुनते ही वे दौड़ आये। माथे की चादर कमर में बाँधली और तीनों को ऐसे तीन घूँसे लगाये कि उनकी आँखों में अँधेरा छा गया।"

"फिर ?"

"उसके बाद मेरा हाथ पकड़कर वे मुझे सदर रास्ते पर ले आये। वहाँ आकर मुझे बहुत फटकारा और कहा कि मुझे एक बहुत जरूरी काम है, फिर भी तुम्हें घर तक पहुँचाये बिना मैं काम से नहीं जा सकता। कहकर मेरे साथ वे मेरे घर तक गये।"

"हाँ, पिछली बार ताऊजी की बीमारी की खबर पाकर बिनू दादा काशी चले गये थे।"

"ऐसा ही होगा; लेकिन मैंने उन्हें कितना कहा कि किसी दिन मेरे यहाँ आइयेगा, पर वे फिर कभी न गये।"

इसी समय घर के दरवाजे पर एक गाड़ी आकर खड़ी हुई। सीता ने कहा—"डाक्टर साहब आ गये; चलिए न पञ्चू बाबू, आप भी एक बार बाबूजी को देख आइये।"

डाक्टर साहब के घर में घुसते ही हमलोग उठ खड़े हुए और तीनों आदमी साथ-साथ ऊपर आये।

[१५]

पाँच-छः दिन के बाद, एक दिन सहसा सीता के पिता की तबियत बहुत ज्यादा ख़राब हो गयी। बहुत रात तक वहीं रहने के कारण घर आने और सोने में देर हो गयी। इसीसे सवेरे भी जल्दी नींद न खुली। उठूँ-उठूँ करते-करते मैं करवटें बदल रहा था कि सन्ध्या ने आकर मुझे झकझोर दिया—"उनके यहाँ का नौकर बुलाने आया है, बाहर खड़ा है।"

उठकर बाहर आते ही सीता के नौकर अक्षय ने कहा—"बिटिया आपको बुला रही हैं।" झटपट हाथ-मुँह धोकर सीता के घर गया। देखा, उसके पिता की अवस्था सङ्कटापन्न है। सीता की माँ रोने लगीं। सीता जड़ होकर चारपायी के एक किनारे खड़ी थी। रात्रि-जागरण और दुश्चिन्ता के कारण उसका मुह मलीन हो गया था। मेरे आने के कुछ ही देर बाद सन्ध्या भी खिड़की से सीता के पास आ-बैठी और उसके हाथ से पंखा लेकर आप ही झलने लगी।

इधर कई दिनों से, जभी वक़्त मिलता, सन्ध्या इस घर में आकर सीता की कुछ मदद कर जाया करती थी। दो दिन बाद, एक दिन शाम को उनके घर से लौट-आकर बोली—"बड़ा बुरा वक़्त बीत रहा है बेचारों का। इसी आसाढ़ में सीता के ब्याह का

ठीकठाक था, वह भी गड़बड़ हो रहा है। इतने दिन का आयोजन इतना बन्दोबस्त, इतना ख़र्च-वर्च सब बेकार हुआ जा रहा है।"

"सीता का क्या अभीतक ब्याह नहीं हुआ ?"

"रोज वहाँ आते-जाते हो, इतना भी नहीं जानते ?"

"कैसे जानूँ...और मैं क्या जानता हूँ कि बीस-इक्कीस साल की लड़की क्वाँरी बैठी होगी ?"

"ब्याह होने को क्या अबतक बाकी रहता ? लड़का देख-सुनकर ठीक किया जा चुका था, यहाँ तक कि ब्याह की तिथि भी निश्चित हो गयी थी। ऐन मौक़े पर लड़के को धुन सवार हुई विलायत जाने की। सुना लड़के के घर में कोई है नहीं, सीता के बाप ने ही उसे पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाया था; लड़का क्या था, हीरे का टुकड़ा था। जब उसने विलायत जाने की जिद ही की तो लाचार इन्हीं लोगों ने ख़र्च-वर्च देकर उसे विलायत भेजा और लगातार पाँच-छः साल तक उसका सब ख़र्च देते रहे; अन्त में कल यह ख़बर आयी है।"

"क्या ?"

"कि वहीं ख़ूब भारी-भरकम डिग्रियाँ पाकर उसने एक अच्छी नौकरी पाली है और एक मेम से ब्याह कर लिया है।"

"अच्छा ?"

"और क्या ? लड़की बदनसीब है। नहीं तो इधर बाप की यह हालत, उधर जिसकी आशा पर इस उम्र तक क्वाँरी रही...।"

"यह सब भला मैं कैसे जानता ? इन सब बातों को तुम

लोग जितनी जल्दी जान सकती हो, उतनी जल्दी जानने की सामर्थ्य मर्दों में कहाँ है ?"

इसी समय सीता के घर में उसके मामा की आवाज सुन पड़ी। उनको तार दिया गया था। मैंने समझा तार पाकर वह चले आये हैं। शाम को जाकर उनसे बात चीत की। मेरे जाते ही उन्होंने कहा—"आपके बारे में बिटिया से मैं सब सुन चुका हूँ। एक रात को जिसने उस विपत्ति से सीता का उद्धार किया था, सुना है बिनू बाबू आप ही के भाई हैं। आश्चर्य है कि आप-लोग स्वयं ही इस विपत्ति में—लेकिन इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? पूर्वजन्म में आपलोगों ने शायद—आप पूर्वजन्म मानते तो हैं ? विश्वास आपको करना ही होगा, किये बिना दूसरा उपाय नहीं। एक समय भी—खैर, उन बातों को जाने दीजिये—आप कविराजी चिकित्सा को कैसा पसन्द करते हैं ? मेरा ख्याल है, चटर्जी महाशय के लिए यह इलाज ज्यादा अनुकूल होगा।"

दो-चार बातें करके ही समझ गया कि आदमी अन्यमनस्क और अस्थिर-चित्त का है। उस लम्बे कमरे में चहलक़दमी करते-करते उन्होंने कहा—"देखिए पञ्चू बाबू, एक-न-एक सिद्धान्त पर तो आना ही पड़ेगा। इस तरह गोलमटोल सोचने से कुछ लाभ नहीं है। सोचिए, अगर—लेकिन, बिनू बाबू तो एकबार भी इधर नहीं आये।"

"बिनू दादा सबेरे आये थे, और वे इसी वक्त फिर चले आ सकते हैं। अगर घर पर हुए तो आपके आने की खबर मिलते ही…।"

"अच्छा, चटर्जी महाशय के बारे में आप क्या सोचते हैं ? आपको है कुछ उम्मीद ?"

मैं उनकी इस बात का क्या जबाब दूँ यही सोच रहा था, लेकिन जबाब जिन्हें पाना है, उन्हें जबाब की कोई चिन्ता नहीं दीख पड़ी। प्रश्न करते ही जैसे वे निश्चिन्त हो गये, क्यों कि दूसरे ही क्षण उन्होंने फिर पूछा—"अच्छा पञ्चू बाबू, आप बता सकते हैं, सती का कौन-सा अङ्ग कालीघाट में पड़ा था ?" मैं तब भी चटर्जी महाशय के बारे में सोचने लगा। लेकिन, मुझे कुछ बोलने की जरूरत न पड़ी। वे स्वयं ही कहने लगे—"देखिए, मुमकिन है बच जायँ और मुमकिन है न भी बचें। अगर बच गये, तब तो कोई बात नहीं है; लेकिन अगर न बचे तो,—तो, बिटिया के लिए ही जरा चिन्ता है। एक नया बखेड़ा उठ खड़ा हुआ है। दुनिया की चलन कुछ भी समझ में नहीं आती पञ्चू बाबू ! यह कैसी रहस्यपूर्ण, कैसी गम्भीर, अथच अतल है ! आश्चर्य ! आश्चर्य ! और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इसे समझे-बूझे बिना ही कह डालते हैं कि सृष्टि असम्पूर्ण है, जगत्-पद्धति में दोष है, त्रुटि है···।"

"उन वाहियात आदमियों की बात छोड़ दीजिए; इस समय··· ·······।"

"न, न,—एक दम वाहियात नहीं; जो लोग ऐसा कहते हैं, वे पण्डित भी हैं, लेकिन बिलकुल विचारमूढ़ और अकृतज्ञ-जैसे मालूम पड़ते हैं। मैं तो पञ्चू बाबू यह कहता हूँ कि जब हमलोग स्वयं 'परफेक्ट' नहीं हो सकते, उन्नत संस्कारों तक नहीं पहुँच

सकते तो हमें उस सर्वशक्तिमान् और उसकी सृष्टि को असम्पूर्ण कहने और दोष देने का क्या अधिकार है ?"

इसी समय सीता ने कमरे में प्रवेश किया। आज कई दिनों के बाद उसके मुँह पर उसकी स्वाभाविक प्रसन्नता फूट उठी थी। उसने आनन्द-उल्लास-भरे स्वर में कहा—"आज बाबूजी की हालत बहुत अच्छी मालूम हो रही है। आज तो आपने उन्हें नहीं देखा पञ्चू बाबू, चलिए न जरा देख आइये !" कहकर उत्साह-पूर्वक वह स्वयं ही सबके पहले चल दी।

ऊपर आकर हमलोगों ने रोगी को देखा। आज और दिनों की अपेक्षा उनकी हालत अच्छी ही मालूम पड़ रही थी, लेकिन यह बुझने के पहले लपक उठने वाली दीपक की लौ की उज्वलता है,यह समझते मुझे देर न लगी। और, मेरा समझना गलत न हुआ, उसकी सच्चाई उसी रात को प्रमाणित हो गयी। रात के आखीर होते-होते चटर्जी महाशय के जीवन-दीपक का निर्वाण हो गया।

सीता खूब रोयी-चिल्लायी हो, सो नहीं; लेकिन विषाद-राज्य का सारा विषाद जैसे उसी के शरीर में आकर आश्रित हो गया। असम्भाव्य गम्भीरता ने आकर उसके पूर्ण प्रस्फुटित मुखच्छवि की सारी कोमलता, सारा लावण्य और सारी मधुरता हरण करली। कई दिनों तक वह बहुत दीख भी न पड़ी। अपने सोने के कमरे में अपने में अपने आपको बन्द करके सीता ने जैसे समस्त जगत् से अपने को अलग कर दिया।

मामा ने सीता को सान्त्वना देते हुए कहा—"दुःख करने की क्या बात है बेटी ?—तू तो जानती ही है कि सुख और दुःख दोनों ही अविद्या मूलक हैं और अविद्या उन्हीं की लीला का विकास है।" उसके बाद वे चुपचाप टहलते रहे। थोड़ी देर बाद बोले—"बिनू बाबू, जो होना था, वह तो हो गया; अब उसके लिए रोने और दुःख करने से क्या होगा ? न्याय की बात तो आप जानते ही हैं, संयोग होने से ही वियोग होता है–'मरणान्तं हि जीवितम्!' तो, अब दुःख-सुख क्या ? चिन्ता थोड़ी सिर्फ लड़की के लिए है। उसी के लिए भगवान् से प्रार्थना करता हूँ–" कहकर झटपट वे रास्ते की ओर बाहर चले गये और दो मिनट बाद कमर में कपड़ा लपेटते-लपेटते आकर बोले—"बात अब यह उठती है कि प्रार्थना करना क्या मिथ्या है ? सचमुच ही क्या प्रार्थना करना मनुष्य के चित्त की एक व्याधि है ?"

बिनू दादा ने कहा—"देखिए, सच झूठ………।"

"सच कहते हैं बिनू बाबू, सच-झूठ का विचार ही कौन करता है ? किसी तरह नहीं, किसी तरह नहीं—यह सब पश्चिमी पंडितों के माथे की खराबी है। प्राणों के भीतर से जब उनके उद्देश्य में प्रार्थना अपने-आप ही निकल पड़ती है, तो निश्चय ही—हुआ, अब बिनू बाबू, मैं यह सोच रहा हूँ कि अब इन लोगों के यहाँ रहने से क्या लाभ है, सब को लेकर अब मैं बनारस चला जाऊँ। लेकिन बिनू बाबू मेरे साथ आपको भी जरूर चलना पड़ेगा, क्योंकि इन लोगों का सारा सामान-पत्र मैं अकेले नहीं ले जा सकता।" उसके

बाद जरा हँसकर बोले- "मैं तो ऐसे कह रहा हूँ, जैसे हुक्म देता होऊँ, क्यों पञ्चू बाबू ? लेकिन सचमुच ही मुझे कुछ और नहीं मालूम होता। जान पड़ता है, जैसे आप लोगों पर मेरा भी कुछ अधिकार है।"

बिनू दादा ने कहा--"अधिकार तो है ही मामा ! सभी मनुष्यों पर सभी मनुष्यों का एक अधिकार है—साहाय्य का, समवेदना का, प्रेम का। और, वह है इसी से········।"

"ठीक ही कहते हैं बिनू बाबू, है क्यों नहीं ? जैसे है, वैसे ही मन में एक प्रकार की झंकार भी उठाता रहता है। ऐसा अगर न होता, तो मैं समझता—खैर, जब विश्वनाथ की यही इच्छा है कि इन सबों को लेकर अपने मन्दिर की छाया में रखें, तब—ऐं, क्या कहते हैं ? पञ्चू बाबू, लेकिन आपको भी चलना होगा। चलेंगे न ?"

इतनी देर तक मैं अवाक् होकर उनके मुँह की ओर देख रहा था और सोच रहा था कि यह आदमी कहाँ की बात कहाँ लाकर पटकता है ! सीता ने पहले दिन इनका परिचय देते हुए जो कहा था, देखता हूँ वह अक्षर-अक्षर सच है। मैंने कहा—"बिनू दादा अगर गये तो मेरे जाने की जरूरत ही न रहेगी; और अगर हम दोनों ही चले जायँगे तो घर में कोई न रह जायगा।"

"अच्छा, अच्छा; बिनू बाबू से ही काम चल जायगा। वे अकेले ही एक सौ हैं। उधर ही से अपने पिताजी को भी देखते आवेंगे। इस समय उनकी ज्यादा खोज-खबर रखनी चाहिए।

इस समय बिनू बाबू ही पिता हैं और वे पुत्र हैं। जगत् में प्राय: सभी वस्तुओं का ऐसा अवस्था-परिवर्तन होता रहता है।"

जो हो, और कई दिनों तक वहाँ रहकर और श्राद्ध आदि समाप्त करके सब लोग काशी चले गये। बिनू दादा भी साथ गये। आने के लिये ताऊजी ने भी लिखा था। बुलाया तो उन्होंने मुझे भी था, लेकिन मुझे एक अच्छी-सी नौकरी मिलने वाली थी, फलतः मैं इस समय कलकत्ता छोड़कर न जा सका। सीता ने भी मुझे और सन्ध्या को साथ चलने के लिये बड़ी जिद्द की और तभी मानी जब दुर्गापूजा में आने का वचन ले लिया। जाते समय गाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते सीता ने सन्ध्या का हाथ पकड़ कर खींचते हुए कहा— "अगर दुर्गापूजा में न आओगी तो मैं खुद आकर तुम्हें खींच ले जाऊँगी इसी तरह और……" कहकर उसने आँखों से न-जाने-क्या इशारा किया। फिर, मेरी ओर देखकर बोली—"आप से तो मैं बोलूँगी नहीं, जबतक आप बहन को लेकर काशी नहीं आवेंगे।"

पाँच-सात दिन बाद काशी से बिनू दादा की चिट्ठी आयी। उन्होंने लिखा था कि ताऊजी की तबियत ठीक नहीं है, इसलिये वे कुछ दिनों तक वहीं रहेंगे और दुर्गापूजा में हमलोगों को बनारस आने के लिए ताऊजी ने बहुत कहा है। पत्र पढ़कर सन्ध्या ने कहा—जेठ जी ने दुनिया भर की बातें लिखीं, पर सीता की कोई बात ही न लिखी। सचमुच ही उसके लिए मेरा मन न-जाने-कैसा हुआ करता है।"

मैंने कहा—"तुम और सीता क़रीब-क़रीब एक ही उम्र की हो—मुश्किल से वह तुमसे दो-एक साल छोटी होगी, लेकिन तुम ऐसे बातचीत करती हो जैसे वह तुमसे न-जाने-कितनी छोटी हो।

"सचमुच ही, उम्र में समान होने पर भी मन और व्यवहार से वह बिलकुल बच्ची है।"

"लेकिन कभी-कभी तो वह ऐसी गम्भीर बातें करती है कि बुढ़िया पुरखिन जान पड़ती है।"

"कुछ हो, लेकिन मैं उसे बहुत प्यार करने लगी हूँ।"

"और मैं भी।"

"मज़ाक नहीं—तुम भी और एक आदमी और भी।"

"कौन ?"

"जेठजी।"

"लेकिन जेठजी तो न उनके घर ज्यादा जाते थे और न सीता से विशेष बातचीत ही करते थे।"

"तुम तो ब्याह के बाद भी सालभर तक न ज्यादा मेरे पास आते, न बातचीत ही करते थे।"

"तो तुम्हारा मतलब है कि सालभर ही मैं तुमको प्यार करता था, अब नहीं करता ?"

"करते हो महाशयजी, ख़ूब करते हो- ख़ूब,-ख़ूब, ख़ूब। लेकिन सवाल यह है कि पूजा के समय काशी चलोगे कि नहीं ? चलोगे न ?"

"मैं तुमसे नहीं बोलूँगा—कुट्टी !"

बोलना मत, लेकिन काशी जरूर चलना पड़ेगा ! न चलोगे तो मेरी भी तुमसे कुट्टी ।"

इसी समय मोती की माँ एक लिफाफा दे गयी। पता सन्ध्या के नाम का था। अतः उसे मैंने पत्र के अधिकारी के ही हाथ में दिया। पत्र पढ़कर सन्ध्या ने कहा—"देखो बहन मेरी कितना प्यार करती है ! कितनी बातें लिखी हैं उसने।" कहकर सन्ध्या ने पत्र मेरी गोद में फेंक दिया—लम्बा पत्र था। शुरू से आखीर तक पढ़ गया मैं उसे। पढ़कर समझा कि सीता हमलोगों को हर तरह से अपना कर लेना चाहती है। पत्र के अन्त में लिखा था कि पञ्चू बाबू से मेरा नाम लेकर कहना कि अगर पूजा में न आये तो उनपर जुर्माना कर दिया जायगा।

सन्ध्या ने कहा—"देखा सीता मुझको कितना प्यार करती है ?"

"सीता ही सिर्फ प्यार करती है, और तो कोई करता नहीं !" कहकर और बनावटी क्रोध दिखाकर मैं नीचे चला गया।

[१६]

देखते-देखते कई महीने बीत गये। पूजा सर पर आ गयी। ताऊजी को पहले ही पत्र लिखकर पूजा के कई दिन पहले ही हमलोगों ने काशी के लिए प्रस्थान किया। हमलोगों को देखकर बिनू दादा ने कहा—"आ गये ? अच्छा ही हुआ ! बाबूजी तुम-लोगों के लिए बहुत अस्थिर हो रहे थे।"

दूसरे दिन सबेरे ही बिनू दादा के साथ सीता के घर पहुँचा। ऊपर से ही हमलोगों को आते देखकर सीता नीचे दौड़ आयी। बोली—"फाइन होने-होने हो रहा था ! बड़े मौके पर आ गये। बहन को लाये हैं न ? नहीं तो डबल फाइन देना पड़ेगा ! अच्छा, क्या हालचाल है ? बहन हैं तो अच्छी तरह ?" फिर बिनू दादा की ओर देखकर बोली—"बिनू बाबू तो हैं एकदम हमारे अतिथि बैठने को कहे बिना तो बैठेंगे नहीं और वे हमारे-इधर बहुत आते भी नहीं। पहले दोनों शाम आया करते थे, अब आना-जाना सब त्याग कर दिया है। मामाजी कभी-कभी जोर-जबरदस्ती से पकड़ लाये तो हुआ, नहीं तो अपने जी से तो कभी वे इस ओर मुँह भी न करें। क्यों, इस तरह आँखें फाड़-फाड़कर क्यों देख रहे हैं ?—झूठ कहती हूँ ?"
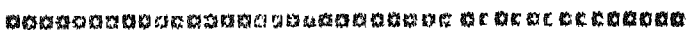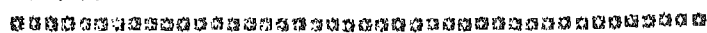
बिनू दादा एक कुर्सी खींचकर बैठ गये। बोले—पहले की तरह अब ज्यादा नहीं आ पाता, लेकिन न आने का कारण भी तो तुम जानती हो सीता! आजकल काम की—"

"बड़ी भीड़ रहती है!—रसोई-पानी, बर्तन माँजना, पानी भरना, और क्या बिनू बाबू?—लड़का खिलाना, सौदा-बाजार करना!" बहुत दिनों के बाद सीता की वह अनुच सरल हास्य-लहरी कानों को गुँजाती हुई कमरे में तरङ्गायित हो उठी।

बिनू दादा ने मधुर हँसी हँसकर कहा—"आ तो रोज ही सकता हूँ सीता, लेकिन जी नहीं होता; क्योंकि अतिथि का आदर जैसा चाहिए वैसा होता नहीं। जो दो-चार दिन पर आता था, अब वह भी न आऊँगा।"

सीता आश्चर्य से काठ होकर बिनू दादा के मुँह की ओर देखने लगी। बिनू दादा ने कहा—"इसमें लाभ की जगह तीन बातें हो रही हैं। पहला तो अतिथि का अपमान होता है, दूसरा हार्मोनियम भी पड़ा-पड़ा खराब हुआ जा रहा है और तीसरा तुम्हारा गला भी बन्द हुआ जा रहा है।"

हो-हो करके सीता हँस पड़ी। बोली—"सच कहती हूँ, मैं तो डर गयी थी।......लेकिन और चाहे जो हो, गला मेरा किसी तरह बन्द नहीं हो सकता। मैं अब भी ऐसा चिल्ला सकती हूँ कि उसके सामने आपलोगों के गले को भी हार मानना पड़ेगा।"

"हाँ, और इसका प्रमाण उस रात को मिला था, जब गुण्डों के हाथ में पड़ी थीं।"

"मैं क्या करूँ, उस समय तो मैं चिल्ला ही नहीं सकती थी, क्योंकि······"

"क्योंकि ?"

"उनलोगों ने गले में चुपैली बाँध दी थी।"

कौतुक-भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हुए बिनू दादा ने पूछा—"चुपैली ?"

"हाँ, चोर जैसे मन्तर पढ़कर लोगों की आँखों में निंदैली बाँधकर चोरी करते हैं, वैसे ही।"

"तो वह चुपैली क्या तुम्हारे गले में अब भी बँधी हुई है सीता?"

"क्या मुश्किल है ! जब आते हैं, तभी तो गाती हूँ।"

"झूठ बोलने से पाप लगता है, यह बात तो तुम्हें मालूम ही होगी।"

मैंने कहा—"इतना गड़बड़ करने से क्या फ़ायदा ? दो-एक गीत गा देने से ही तो फिर बिनू दादा के कहने को कुछ न रह जायगा !" मेरी ओर देखकर, बनावटी क्रोध दिखाती हुई सीता ने कहा—"आप भी बड़े वैसे हैं।"

अक्षय जब अन्दर से लाकर हार्मोनियम दे गया तो उसके स्वर-में-स्वर मिलाते हुए सीता ने कहा—"बिनू बाबू की सब बातें अद्भुत हैं। ऐसे सुन्दर सबेरे में चीखने-चिल्लाने का शोर सुनने की न-जाने-क्या साध है !"

बिनू दादा ने कहा—"तुम यदि बिनू बाबू होतीं और मैं होता सीता तो तुम भी ऐसी ही अद्भुत होतीं सीता !"

जो हो, गीत शुरू हुआ। बहुत देर तक लम्बा कीर्तन-गीत गाकर सीता ने जोर से हार्मोनियम को अलग ढकेल दिया। बोली—"हुआ न ? फिर कभी गीत सुनने का नाम लीजिएगा ? कानों में जलन हो रहा है कि नहीं ?"

"हाँ, प्यास की ज्वाला, अर्थात्………"

मैंने कहा—"अच्छा, यह सब कीर्तन आपको किसने सिखाया है ?"

"यह सब मामाजी की कीर्ति है ?"

बिनू दादा ने पूछा—"मामा कहाँ हैं सीता ?"

"मामा कहाँ हैं, यह बताना बड़ा कठिन है। सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि घर में नहीं है। बाजार जाने की बात कह-कर घर से निकले हैं—अब गंगा के किनारे बैठे भी रह सकते हैं रास्ते में खड़े होकर बन्दर का तमाशा भी देख सकते हैं और किसी साधु-सन्यासी के पास बैठकर आध्यात्मिक विषयों पर बहस भी करते हो सकते हैं।" कहकर घर में एक सरल-मधुर हँसी की तरङ्ग उठाकर सीता चुप हो गयी।

हार्मोनियम को सीता की ओर खींचकर मैंने कहा—"आपने तो एक ही गीत गाकर इधर-उधर की बातें शुरू कर दीं। और न गाइयेगा क्या ?"

सीता पहले जरा हँसी, फिर बनावटी गुस्से से बोली—"गाऊँगी क्यों नहीं, ठहरिये तो—दस, बीस, पचास, सौ आप-लोगों के कानों को बहरा कर दूँगी। गीत सुनते-सुनते अगर
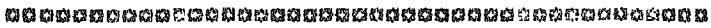
आप भागने न लगें तो मेरा नाम······" कहकर ही उसने गीत शुरू कर दिया। यह एक भजन था—बड़ा ही मधुर, बड़ा ही भावपूर्ण। सुना था, सङ्गीत ठीक तौर से गाने पर उसका सुर मूर्त रूप धारण कर लेता है। मेरे मन में हुआ, सीता के मीठे गले, उसकी शिक्षा और उसके अन्तर्निहित भाव के साथ मिलकर उस भजन का वह स्वर प्राणमय होकर सन्मुख प्रवाहित हो चला। लक्ष्य किया कि गाने के समय सीता के मुँह और आँखों का भाव परिवर्तित हो गया है। प्रायः पन्द्रह मिनट तक इसी अतीन्द्रिय लोक में भ्रमण करने के बाद हार्मोनियम रखकर सीता ने आँचल से माथे का पसीना पोंछा। क्षणभर तक सभी निस्तब्ध रहे। इसी समय मामा ने कमरे में प्रवेश किया। उनके एक हाथ में एक बड़ी मछली थी और दूसरे में जलपान का दोना। मुझे देखते ही चौंककर बोल उठे—"ओ हो, आ गये बाबा जी? मैं कई दिनों से सोच रहा था—बहू वगैरह को भी लाये हो न? सीता, यह सब अन्दर ले जाओ तो बिटिया! बिन्नू, भाग न जाय। मैं अभी आता हूँ।"

मछली और जलपान का दोना हाथ में लेकर सीता ने पूछा—"और फिर कहाँ चले मामा?"

"एक क़िस्सा कर आया हूँ बेटी, अभी फिर दौड़ना पड़ेगा।"

"क्या हुआ मामा?"

"दस आने का सामान खरीदा और एक नोट दिया—बनिये ने बाकी रुपये लौटाये नहीं।········परन्तु, बहुत-सी बातें करनी
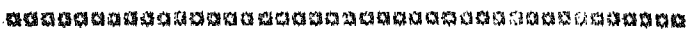
हैं, मैं अभी आया ; चले मत जाना।" कहकर मामा झटपट बाहर निकल गये। सीता ने कहा—"मेरी न सही, मामा की बात तो आपको माननी ही पड़ेगी। बैठिये, भाग न जाइयेगा। कम-से-कम पाँच मिनट, जबतक मैं अन्दर से लौट न आऊँ"—कहकर सीता अन्दर चली गयी क्षणभर बाद ही दो रकाबियों में जलपान लेकर लौट आयी। बोली—"अतिथि का सत्कार होता है। गान से और पान से, अर्थात् थोड़ा बहुत जलपान से।...... यह नहीं होने का पन्चू बाबू, आप उसे अलग हटा क्यों रहे हैं। जाइये, मैं फिर कभी आपसे......"

"न बोलियेगा ?"

"हाँ।"

"तब तो खाना ही पड़ेगा, लेकिन देखिए, फिर कभी इस तरह न डराइयेगा।"

सीता ने हँसते हुए कहा—"बिनू बाबू इस मामले में बड़े अच्छे हैं। अच्छे भी हैं और होशियार भी। देखो न, कैसे झट-पट रक़ाबी खाली किये जा रहे हैं। मुझे सचमुच यह बड़ा अच्छा लगता है। जी करता है, रोज बिनू बाबू को सामने बैठाकर खिलाया करूँ।......और कुछ लाऊँ बिनू बाबू ?" कहकर सीता अन्दर की ओर चली, तभी बिनू दादा ने कहा—"सीता, लड़कपन न करो।

"अभी कर लूँ, बुड्ढी होजाने पर न करूंगी।" कहकर सीता अन्दर चली गयी और थोड़ी-सी मिठाई लाकर बिनू दादा के मना करते रहने पर भी उनकी रक़ाबी में एक-एक करके डाल दिया।

मामा उस समय तक न लौटे थे। जलपान करके हमलोग घर आने के लिए उठे। सीता ने कहा—"बैठिये न बिनू बाबू, घर जाकर चुपचाप गङ्गा की ओर देखते ही रहना है न ?······ जानते नहीं पञ्चू बाबू, उस दिन मामा के साथ ताऊजी को देखने गयी थी। जाकर देखा, बिनू बाबू गङ्गा की ओर मुँह किये चुपचाप बराण्डे में बैठे हैं। जाकर पीछे खड़ी हो गयी, खाँसने लगी—बिनू बाबू को खबर नहीं, पैर से दो-एक बार ज़मीन थप-थपायी, लेकिन बिनू बाबू गङ्गा की शोभा देखने में विभोर रहे। मन-ही-मन सोचा कि आजकल मामा के शिष्य हो रहे हैं—ऐसा होना ही चाहिए। फिर सोचा, बङ्गाल से आकर काशी की शोभा देखते-देखते शायद कवि हो-उठे हों !

बिनू दादा ने कहा—"नहीं सीता, उस चीज़ का तो मुझसे कोई ताल्लुक़ ही नहीं है। बल्कि कविता-बविता की सनक······" कहकर बिनू दादा ने मेरी ओर इशारा किया।

मैंने कहा—"इन बातों में क्या रक्खा है ! देखो तो कितनी देर हुई ! घर चलने का भी कुछ ध्यान है ?" कहकर मैं उन्हें रास्ते पर घसीट लाया।

रास्ते में चलते-चलते मैं सीता की ही बात सोचने लगा। इसकी आत्मीयता, सरलता, सदा प्रफुल्ल भाव—इसकी सरस वाक्पटुता, शिक्षा-दीक्षा और सबसे अधिक हमलोगों से इस प्रकार सँकोचहीन भाव से मिलने-जुलने के कारण, उसके प्रति हमलोगों का मन खिंचता जा रहा था। इस आत्मीयता से हम-

लोग दिन-पर दिन निकट होते जा रहे थे। इसीसे उसके सम्पर्क से जितना आनन्द मिलता था, उतना ही कष्ट भी होता था। हिन्दू के घर की इक्कीस वर्ष की क्वाँरी लड़की की बात सोचकर कष्ट होने की बात ही थी; लेकिन जिसके लिए कष्ट था, उसके मन में कोई बात ही न थी। सीता इस प्रकृति की लड़की ही न थी कि उसका बहिर् देखकर अन्तर जाना जा सके। उसके सदा प्रसन्न रहने वाले और हास्य-कौतुक भरे स्वभाव के अन्दर दुःख और विषाद की कोई छाया भी है या नहीं, इसे अन्तर्यामी के सिवा और कोई नहीं जान सकता।
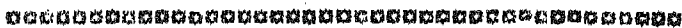
दिन बहुत चढ़ आया था। घर पहुँचे तो ताऊ जी को ज्वर चढ़ आया था। इन दिनों उनकी तबियत अक्सर खराब रहती। कभी ज्वर, कभी खाँसी, कभी सर्दी, कभी और कुछ। उसदिन तीसरे पहर मुझे बुलाकर उन्होंने कहा—"पच्चू, अब तो मेरा समय आ गया है। थोड़े रोज का मेहमान हूँ। इसीसे तुम लोगों को बार-बार लिखकर बुलाया है। लेकिन अब सिर पर एक नये काम का भार आ पड़ा है। उसे किसी-न-किसी तरह पार लगाना ही होगा। आज तुमलोग उनके घर गये थे? सीता के मामा······"

इसी समय नीचे एक परिचित कलहास्य की ध्वनि सुन पड़ी। ताऊजी ने कहा—"मालूम पड़ता है, मेरी सीता बिटिया आयी है। दो दिन से यहाँ नहीं आयी तो बार-बार उसकी याद आरही थी।" उनकी बात खत्म होते-होते ही सीता आकर उनके पैर के

पास बैठ गयी। बोली—"आपको फिर ज्वर आ गया ताऊजी ? आपको मैं क्या करूँ अब, कहिए तो ?"

ताऊजी ने सीता के मुँह की ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए कहा—"जो करना है, वह तो तुम करती नहीं बेटी। अब पञ्चू वगैरह सब आ गये हैं, तुम्हारा दल बढ़ गया है। अब तो एक दिन मणिकर्णिका घाटपर ले जाकर विसर्जन कर आओ, यही सबसे बड़ा काम है।"

सीता ने कहा—"ताऊजी, आप बड़े वैसे हैं। मैं आपसे नहीं बोलती।"

उस समय सन्ध्या होने में विलम्ब नहीं थी। उसपार का मैदान, पेड़ पत्ते और दिगन्त रेखा क्रम से अन्धकार में धुँधला हो उठने लगे। चारों ओर के देवमन्दिरों में बजने वाली नौबत का मधुर स्वर हृदय में एक स्वर्गीय और पवित्र भाव जगाने लगा। मैं बैठा-बैठा सोचने लगा कि दो बिलकुल अपरिचित परिवारों में इतनी आत्मीयता सहसा कैसे हो गयी ? छ महीना पहिले कौन जानता था कि सीता वगैरह से हमलोगों की इतनी घनिष्ठता हो जायगी ? लेकिन संसार में यही होता है। जो सबसे 'अपना' है, वह पराया हो जाता है; जिससे जान-पहचान भी नहीं है वह आत्मीय हो जाता है। लीलामय के राज्य में क्या होता है और क्या नहीं होता, इसका कोई क्या पार पावेगा ? उसी सन्ध्या के अन्धकार में, जीव और जगत् के स्रष्टा भगवान् के चरणों में मेरा माथा अपने आप ही झुक गया। वहीं बैठकर मैं मन-ही-मन उनको प्रणाम करने लगा।

[१७]

चार-पाँच दिन बाद, एक दिन भोजन आदि करके दोपहर में मैं सोने की कोशिश कर रहा था। दिन में सोने की आदत थी नहीं, इसलिए मैं करवटें बदल रहा था। धीरे-धीरे नींद आने लगी थी, लेकिन बीच में आ पड़ी बिनू दादा की पाँच वर्ष की कन्या पद्मा। अपने पिता के पास वह फटकती भी नहीं थी—जितना हेल-मेल, बातचीत और कहना-सुनना था, मुझ ही से था। पद्मा ने आते ही मेरी पीठपर सोकर पूछा—"काकू, क्या कर रहे हो?" मैंने सोचा कि उत्तर देने में कुशल नहीं है। एक बात का उत्तर मैंने दिया नहीं कि पद्मा के प्रश्नों की बौछार मेरी नींद को गङ्गा पार कराकर व्यास-काशी के पास तक खदेड़ आवेगी। इसीसे मैं आँखें मूँदे चुपचाप पड़ा रहा। पद्मा ने फिर प्रश्न किया—"काकू, तुम क्या कर रहे हो?" फिर भी बिना कोई उत्तर दिये मैं सोचने लगा कि बच्चों की बुद्धि-विवेचना इतनी कम क्यों होती है? जिसे 'सोता हुआ' समझ लिया, वह 'क्यों' का उत्तर कैसे दे सकेगा, यह ये क्यों नहीं समझ पाते? जो हो, पर मेरी जान न छूटी। पद्मा मुझे घोड़ा बनाकर पीठ पर बैठ गयी मेरे बाल पकड़कर खींचती हुई बोली—"काकू, तुम्हारा माथा मेरे से इतना बड़ा क्यों है? बोलते क्यों नहीं? ओ काकू!" मैंने

सोचा कि बिना उत्तर दिये अब रक्षा नहीं है। इसीसे आँख मूँदे हुए ही मैंने संक्षेप में कहा—"हूँ।"

"हमलोगों के यहाँ घोड़ा क्यों नहीं है काकू ?"

"हूँ।"

"काकू, मुझे एक नाव खरीद दोगे ?—इतनी बड़ी नाव ! वह देखो न, कितनी बड़ी नाव जाती है ! नाव कहाँ जाती है काकू ?"

"हूँ।"

"दिन को चाँद क्यों नहीं निकलता ?–बंसी कहाँ बजती है ?"

"हूँ।"

इसके बाद पद्मा को न-जाने-क्या सूझा कि वह मेरी पीठ से उतरकर खिड़की के पास जा बैठी और अपने आप ही बकने लगी —"दुम् दुम् फटास् दुम्–दुम् दुम् फटास् दुम्–कौन है रे ? जूजू ने पकड़ लिया–ठैर, ठैर, आती हूँ।" जरा देर चुप रहकर पद्मा कोयल की बोली बोलने लगी—"कुहू-कुहू-कुहू-कू-कू-ऊ-ऊ-ऊ—"

मैंने डाँट कर कहा—"क्या हो रहा है पद्मा ?"

"काकू, कोयल आती क्यों नहीं आती ?"

"आवेगी। पाजी कहीं की, जा सोजा जाकर।"

धमक खाकर पद्मा बराण्डे के उस पार चली गयी और वहाँ जाकर अपने आप ही गाने लगी—"साँझ-सबेरे बंसी बाजे—ए-ए-ए-" उसके क्षणभर बाद ही पैरों की आवाज से जान पड़ा कि गायिका सीढ़ी से नीचे उतर गयी। चैन पाकर मैं भी बगल की तकिया छाती में रखकर सो गया।

जरा-सी नींद आयी थी कि धड़ से दरवाजा खुलने की आवाज से नींद टूट गयी। देखा - एक राम से ही रक्षा न थी, अब सुग्रीव भी आ जुटे। पद्मा के साथ मेरे श्रीमान् का शुभागमन हुआ था। आते ही दोनों ने शोरगुल शुरू कर दिया।

पद्मा ने कहा—"क्यों भाई बूबू, तुमने बाघ देखा है, डोरे वाला बाघ ?"

"देखा है, देखा है—तूने तो देखा नहीं। आदमी को देखते ही बाघ खा जाता है।"

"क्यों भाई, वह भात क्यों नहीं खाता ?"

"भात भी नहीं खाता और खाना भी नहीं खाता।...भालू देखा है। कैसे वह सुसराल जाता है। तूने कुछ नहीं देखा—तू बच्ची है।"

"बच्ची क्यों, मैं तो तुम से बड़ी हूँ।"

"मुझसे बड़ी ? मार दूँगा, स्टुपिड्।"

"हाँ, हूँ तो। काकी से पूछ लो चलकर।"

"मार दूँगा पद्मा, कहता हूँ मार दूँगा—आ—आ—आ"

बाप-रे-बाप, कान के पर्दे फटने-फटने हो गये। उठ जाने की कोशिश करने लगा। इधर बूबू ने पद्मा से सुलह करके कहा—"आओ पद्मा, यात्रा करें। तुम गाओ, मैं बजाऊँ। क्यों ?" देखा —अब रक्षा नहीं है। कमरे में एक पुराना टीन पड़ा था, बूबू उसे ही बजाने लगा और पद्मा ने गाना शुरू किया—"साँझ सबेरे बंसी बाजे" बंसी बजे या न बजे, मेरी नींद तो एकदम ही गायब

हो गयी। उठकर पद्मा को एक थप्पड़ बूबू को एक थप्पड़ लगाते ही वे नीचे भाग गये। मैं फिर आकर बिछौने पर सोया। उस वक्त तक लेकिन तीन पहर बीत गये थे। क्षणभर बाद ही मुझे नींद आ गयी। सोये-सोये मैं स्वप्न में देखने लगा। स्वप्न कि घर में उत्सव है, भूरि-भोजन की व्यवस्था हो रही है। आहार्य-द्रव्योंसे भण्डार और घर-द्वार भर उठा है। दालान की एक ओर एक बड़े चूल्हे में ताऊजी स्वयं पूरियाँ निकाल रहे हैं। उनके पास बैठकर बूबू छनौटे से घी का टीन बजा रहा है और पद्मा एक खाली बोरे पर बैठकर गाना गा रही है—"साँझ सबेरे बंसी बाजे।" दुतल्ले के दालान के एक किनारे बिनू दादा खाने बैठे हैं और सीता उनको खिलाती हुई कह रही है—"यही मुझे बड़ा अच्छा लगता है। जी होता है, रोज बिनू बाबू को सामने बैठाकर इसी तरह खिलाऊँ।" बिनू दादा ने कहा—"चाहो तो खिला सकती हो।" सीता ने कहा—"खिला सकती हूँ? ठैरो, पञ्चू बाबू से पूछ आऊँ।" कहकर वह मेरे पास आयी और मुझे पुकारने लगी—"पञ्चू बाबू, ओ पञ्चू बाबू, ओ पञ्चू बाबू?"—स्वप्न टूट गया।

झटपट उठ बैठा। देखा सामने खड़ी होकर सीता सचमुच ही पुकार रही है—"पञ्चू बाबू, पञ्चू बाबू, ओ पञ्चू बाबू! बाप-रे-बाप, दिन में इतनी नींद!"

धोती की छोर से आँखें पोंछ कर कहा—"सोया कहाँ था? जरा सी झपकी आ गयी थी।...आप कब से आयी हैं? किसके साथ आयी हैं? मामा भी जरूर ही आये होंगे?"

सीता ने कहा—"मामा, मामी और खुद मैं,—सभी आये हैं। चलकर खाने-पीने का इन्तजाम कीजिए कुछ, आज हमलोग यहीं खाना खायँगे।"

"इसमें मुश्किल क्या है? इन्तजाम तो आज बहुत है। नीचे दालान में शायद ताऊजी खुद ही पूरियाँ पका रहे हैं।"

"सपना देख रहे थे क्या पन्नू बाबू?"

"हाँ, सचमुच ही। ...लेकिन, आप खड़ी क्यों हैं? ईज़ी-चेयर खींच कर बैठ जाइये न?"

जरा हँसकर सीता ने कहा—"अभी इतनी 'फ़ारवर्ड' नहीं हो सकी पन्नू बाबू, कि मर्द जमीन पर बैठा रहे और मैं मेम-साहब बनकर, दोनों पैर लटकाकर बैठूँ!"

"इसमें दोष क्या है?"

"दोष की बात तो मैं कहती नहीं। मेरा गुण अभी इतना नहीं बढ़ सका है।" कहकर सीता जमीन पर ही बैठ गयी और बाहर बरामदे की ओर देखकर बोली—"आपका घर देखकर मन में लोभ होता है। घर बैठे ही चौबीस घण्टा माँ-गङ्गा का दर्शन मिलता है। अच्छा, आइये, एक बात करें—आप हमारे घर से अपना घर बदल लीजिए।"

"घर बदलने की जरूरत ही क्या है? मतलब तो दर्शन-भरसे ही है न? आप आकर यहीं रहिए, बस चौबीस घंटा दर्शन होता रहेगा।"

"हाँ, ऐसा भी हो सकता है; लेकिन रहने दीजिएगा? अन्त में लाठी मारकर निकाल देंगे या सकुची मछली का चाबुक!"

"देखता हूँ, आप कुछ भूलती नहीं। आपकी स्मरणशक्ति बहुत तेज ।"

"बहुत! नहीं तो क्या मैं बी-सी-डी—एम-एन-ओ-पी पास कर सकती थी?" कहकर अपने मधुर स्वर से हो-हो करके हँस पड़ी।

मैंने बात फेरकर पूछा—"आपलोग कितनी देर से आयी हैं?"

"घण्टे-भर से ज्यादा हुआ। अबतक तो मैं, मामी और बहन जी, हम तीनों बैठकर गप-शप कर रही थीं। अच्छा, यह तो बताओ, आज बहनजी का काहे का व्रत है—रिकाबी में उन्होंने फूल, चन्दन, धान, दूब इकट्ठा कर रक्खा है! पूछा तो कुछ बोलीं नहीं, हँसने लगीं।"

"व्रत? आश्विन में? मैं ही एक गरीब भिखारी पड़ा हूँ, इसी लिए अगर उन्होंने किसी सदाव्रत की व्यवस्था—"

"पहले तो आप भले आदमी थे अब देखती हूँ कि बड़े शैतान हो गये हैं। ठहरिये मैं बहनजी से कहती हूँ।"

हम दोनों उठकर तितल्ले पर ताऊजी के कमरे में आये। वहाँ मामा का व्याख्यान धारावाहिक रूप से हो रहा था। सीता उन्हीं के पैरों के पास जमीन पर बैठकर ताऊजी से बोली—"ताऊजी, आज आपकी पद्मा ने मुझसे एक बड़ा मुश्किल सवाल किया है।"

"क्या सवाल बेटी?"

"यह कि बाघ दूध और भात क्यों नहीं खाता, आदमी क्यों खाता है?"

ताऊजी ने कहा—"बेटी, सवाल तो सचमुच मुश्किल है।"

मामा ने कई बार अपने-आप ही धीरे-धीरे कहा—"आदमी क्यों खाता है ? आदमी क्यों खाता है ?—हूँ—'आत्मसम्भवित्वं पिशितैर्नराणां ......।' तो सीता, तू ने कहा क्यों नहीं—'धर्मोऽप्ययं दशरथे निजो नः'......?"

सीता ने मामा की ओर देखकर हँसते-हँसते पूछा—"यह बात किससे कहती मामा ? पद्मा से ?"

"यह भी ठीक है। अच्छा, ये श्लोकांश कहाँ के हैं, तू बतला सकती है सीता ? तू ने वह किताब पढ़ी तो थी !"

"खूब बता सकती हूँ। बताऊँ?—भट्टी के राम मारीच की बात है।"

"ठीक तो। तेरी स्मरणशक्ति तो बड़ी तेज है।

"थोड़ी देर पहले पञ्चू बाबू ने भी यही बात कही थी।" कहकर सीता हँसने लगी।

सहसा मामा उठकर कमरे में टहलने लगे। टहलते-टहलते बोले—"अब बात यह है कि, उस दिन गुरुचरण बाबू जो पूछ रहे थे, काशी में एक घर होना बहुत जरूरी है। यही देखिए, यदि आप एक मकान का किराया बत्तीस रुपये देते हैं—ओ हो हो ! खैर, जाने दो।"

ताऊजी ने झटपट पूछा—"क्या हुआ ?"

"बड़ी गलती हो गयी। आज सबेरे गैबी जाने की बात थी, वहाँ एक बङ्गाली साधू आये हुए हैं। कई दिनों से बातचीत पक्की हो चुकी थी। खैर, जाने दो। बेटी सीता, आज शुक्रवार है न ? मिशन का वह लड़का—।"

"वे सबेरे आये थे मामा, आप उस वक्त पूजा कर रहे थे। मैंने उन्हें दो रुपये दे दिये।"

"अच्छा किया बेटी, मैं तो एकदम भूल ही गया था। खैर, क्या कह रहा था बामाचरण बाबू? घर—हाँ, काशी में एक घर बनवा लेना अच्छा ही है। खासकर यह घर तो बड़ा ही सुन्दर है—एकदम गङ्गा के किनारे।"

"हाँ, गङ्गास्नान की बड़ी सुविधा है।"

"इसमें क्या शक?–लेकिन कालेज की झंझट में मुझे तो कम ही मौक़ा लगता है। गङ्गास्नान की बात कौन कहे, अनेक बार सन्ध्या-न्हिक करने का भी वक्त नहीं मिलता। इसीलिए शास्त्रोंमें लिखा है कि ब्राह्मण के लिए--खैर, गनीमत यही है कि कलि में यदि एक बार भी भगवान् को स्मरण कर लिया जाय तो काम चल जाता है।"

"अच्छा?"

"हाँ। एकदिन देवताओं की सभा में आकर नारद आनन्द से अधीर होकर भयानक रूप से नाचने-गाने लगे। देवताओं ने कहा—"यह क्या हुआ? नारद आज इतने ख़ुश क्यों हैं?" नारद ने कहा—"ख़ुश क्यों न होऊँ?—कलियुग जो आ रहा है!" देवता गण कुछ समझ न सके। पूछा—"इसमें ख़ुश होने की क्या बात है?" नारद ने कहा—"ख़ुश होने की बात नहीं है? सत्ययुग में हरिस्मरण करते हुए साल भर तक धर्मादि कार्य करने से जो फल होता था, वह त्रेता में एक महीने में, द्वापर में एक पक्ष में और कलि में एक ही दिन में हो जाता है। जिस

कलिकाल में इतनी सुविधा है, वह जब शीघ्र ही आने वाला है तो खुश क्यों न होऊँ ?"

सीता ने कहा—"शास्त्रकारों ने बड़ी चतुराई की है। साधारण लोगों की मति धर्म में बनाये रखने के लिए ही ऐसी सहज व्यवस्था कर दी है।"

"यह तो है ही। शास्त्रकारों ने इसी प्रकार चारों ओर नजर रखकर सब व्यवस्था की है, इसी से तो आज भी हमारे सनातन धर्म की जञ्जीर इतनी मजबूत है; नहीं तो दूसरे देशों की ओर देखो—क्या हालत हो गयी है धर्म की !" मामाजी और भी न-जाने क्या-क्या कहते जा रहे थे कि ताऊजी ने टोका—"क्या वक्त होगा, देखिए तो ! पाँच बजा कि नहीं अभी ?"

मामा ने जेब से घड़ी निकालकर देखा—"हाँ, सवा पाँच। अब आप इन्तजाम कीजिए।" ताऊजी उठ खड़े हुए और मेरी ओर देखकर बोले—"पञ्चू, यहीं बैठो। कहीं जाना मत।" कहकर वे नीचे चले गये और क्षणभर बाद ही धान-दूब-चन्दन आदि से भरी एक रिकाबी लेकर लौट आये। उनके पीछे-पीछे सन्ध्या भी आयी। सन्ध्या के हाथ में दो कार्पेट के आसन थे।

मामा ने सीता की ओर देखकर कहा—"उस आसन पर बैठो तो बेटी !"

"क्यों मामा ?"

ताऊजी ने हाथ की रिकाबी आसन के सामने, जमीन पर रखते हुए कहा—"बैठने को कहते हैं तो बैठ जाओ न बेटी !"

सीता ने और कुछ न पूछा। आश्चर्य और कौतूहल में भरी वह आसन पर आकर बैठ गयी। सामने के आसन पर बैठकर ताऊजी ने सीता के माथे पर धान-दूब और फूल तथा माथे पर चन्दन लगाकर हाथ में एक गिन्नी देकर आशीर्वाद दिया। इसी समय बाहर दालान में से शंख बज उठा। ताऊजी ने कहा—"बेटी, आज मैंने तुमको आशीर्वाद दिया है। घर की लक्ष्मी को और कबतक बाहर रहने देता? पञ्चू, भैया, तुमको बड़ा अचरज हो रहा होगा! कहने की इच्छा होते हुए भी मैं किसी से कुछ न कह सकता था। अब सब बातें सुन पाओगे।"

मामा ने सीता से कहा—"बेटी, स्वामी जी के मना करने से आज के पहले मैं तुमसे भी कुछ नहीं कह सका। लेकिन आज तुझे जिस हाथ में सौंपने जा रहा हूँ, वैसे हाथ बड़े भाग्य से ही मिलते हैं। तो बासाचरण बाबू अब बीनू को नीचे से बुलाइये, मैं भी अपना काम खतम कर लूँ—" कहकर मामा ने रामप्रसादी सुर में एक गीत गुनगुनाना शुरू कर दिया। इन लोगों का आयोजन अन्दर-ही-अन्दर इतनी दूर तक पहुँच गया है, यह बात मैं आज के पहले किसी तरह न जान सका था। बाद में मालूम हुआ कि इसका एक कारण था। बिनू दादा और सीता की गणना मिलाकर स्वामी जी ने कहा था कि आशीर्वाद के पहले यदि वर-वधू यह बात न जान सकें तो यह सम्बन्ध बड़ा सुखद होगा, नहीं तो अमङ्गल की सम्भावना है। इसीसे यह बात हमलोगों से भी गुप्त रक्खी गयी थी। लेकिन शाम को घूमते

हुए जब बिनू दादा और मैं दशाश्वमेध घाट पर आये तो उन्होंने कहा—"यह तो मैं पहले ही जान गया था।" मैंने आश्चर्य से कहा—"यह तो तुम्हें न जानना चाहिए था, कैसे जान गये तुम?"

"उसदिन बातों-ही-बातों में मामा के मुँह से कुछ ऐसी बातें निकल गयीं, जिससे मुझे इस बात का आभास मिल गया।"

"लेकिन स्वामी जी ने तो कह दिया था—"

"क्या?"

"कि आशीर्वाद के पहले अगर तुम दोनों में से कोई यह बात जान जायगा तो—"

"अशुभ होगा?"

"खाक होगा! तुम भी पञ्चू—!!"

"खैर उसे जाने दो। लेकिन भाभी के मरने पर तो तुमने ऐसी जिद पकड़ी कि किसी तरह ब्याह न किया और आज चुप-चाप सिर झुका दिया, कुछ बोले तक नहीं, यह बात समझ में न आयी!"

"क्या करूँ पञ्चू? बाबू जी की यह अन्तिम अवस्था है, इस समय उनके मन को कष्ट देना······समझे?"

जो हो, विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। अगहन में ब्याह की तिथि निश्चित हुई। लेकिन, मेरी छुट्टी खत्म हुई जा रही थी, फलतः मैं और न रुक सका। पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर अगहन में फिर चला आऊँगा, यही निश्चय करके और सन्ध्या को काशी में ही छोड़कर मैं अकेला ही कलकत्ता चला आया।

आने के दिन सवेरे सीता के घर गया था। मामा घर थे नहीं, सीता की माँ ने कहा—"पहुँचते ही जैसे वहाँ खत लिखोगे, वैसे ही यहां भी एक कार्ड डाल देना। भूलना नहीं।" उसके बाद मैंने मामी से थोड़ी देर बातचीत करके सीता की बात पूछी। मामी ने बताया —'वह तुम्हारी आवाज सुनते ही भाग गई है।" उसदिन आशीर्वाद के बाद से ही, सीता फिर मेरे सामने न आयी थी। फिर भी मैं उसके कमरे के पास गया। जाकर देखा, दरवाजा अन्दर से बन्द है। बाहर खड़े-खड़े मैंने कहा—'अब 'आप' नहीं—अब तो 'भाभी'! लेकिन देखूँगा, कबतक इस तरह छिपी रहती हैं। आज तो जरूर मैं काशी से जा रहा हूँ, लेकिन फिर जल्द ही लौटूँगा।" इसी समय मामी ने बरामदे से जाते-जाते कहा—"पगली ने शर्म से दरवाजा बन्द कर लिया है शायद!" फिर सीता को लक्ष्य करके कहा—"दो दिन बाद यह शर्म कहाँ रक्खोगी बेटी?" कहकर वे रसोई-घर की ओर चली गयीं, मैं भी नीचे उतर आया।

उसीदिन गाड़ी पर चढ़कर दूसरे दिन कलकत्ता आ पहुँचा।

ऑफिस बन्द रहने के कारण काम-काज इतना इकट्ठा हो गया था कि उसकी भीड़ में कार्त्तिक का महीना कब बीत गया, यह मुझे मालूम भी न हो सका। अगहन में पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर मैं काशी आया। यथा समय बिनू दादा के साथ सीता का विवाह सुसम्पन्न हुआ। मेरी भाभी के रूप में सीता ने इस घर में आकर अपना स्थान बना लिया।

[१८]

पूर्व परिच्छेद में बिनू दादा के ब्याह की बात कहकर ही इस जीवन-पथ की यात्रा की अन्तिम लाइन खींच दूँगा, मन-ही-मन मैंने यही सोचा था; पर ऐसा हो नहीं सका। जब हो नहीं सका तो इसका सूत्र कुछ दूर तक और खींचकर ले ही जाना पड़ेगा। खींच ले जाने में आपत्ति तो कुछ नहीं है, लेकिन एक बात सोचता हूँ कि लिखने बैठने पर अबतक जो सारी बातें बहुत दिनों के बाद प्रथम ज्वार के जल की तरह एक साथ मनके ऊपर हू हू करके आ पड़ी हैं, उसका एक आना हिस्सा भी मैं अभीतक नहीं लिख सका और राशि-राशि कागज के पन्ने रँग गये। इस हिसाब से कहने बैठूँ तो कभी 'सब' कह सकूँगा या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। विशेषतः बिनू दादा के विवाह के बाद, पाँच वर्ष के अन्दर, जीवन के ऊपर होकर इतनी घटनाओं का प्रवाह बह गया है कि इन पाँच वर्षों की बात भी कहने बैठूँ तो एक इतनी बड़ी पुस्तक और तैयार हो जाय। सुतरां स्मृति का द्वार बन्द ही रहे, कहानी मेरी रास्ते में ही पड़ी रहे, केवल हाथ के सूत्र को थोड़ा और आगे बढ़ाकर, जिसको बिना कहे काम न चले उतना-ही-भर कहकर यह कहानी शेष कर दूँ।

सामने 'जीवन-पथ' की पाण्डुलिपि खोलकर हाथ में क़लम लेकर इसका नया परिच्छेद लिखने के लिए न-जाने क्या-कुछ सोच रहा था। साँझ होने में अभी देर थी। दिनभर बादल घिरे हुए थे, तीसरे पहर अच्छी एक झोंक वर्षा भी हो गयी थी। अब पानी खुल गया था और बीच-बीच में धूप निकल आती थी, पर बादल फिर भी सघन घिरे हुए थे। बीच-बीच में सूर्य को ढककर बादल के टुकड़े आसमान में इधर-उधर तैरते फिरते थे। मैं अपने लेकरोड वाले निर्जन मकान में पोथी-पत्रा लेकर बैठा जरूर था, पर खुली हुई खिड़की से धूप और बादल का यह खेल देखते-देखते लिखने-पढ़ने की बात मैं प्रायः भूल-सा गया था। सहसा आँखों के आगे से दिन का प्रकाश एकदम ही मिट गया, देखते-ही-देखते मेघराशि सारे आसमान में, चारो दिशाएँ अन्धकार से आच्छन्न हो गयीं, मेघ के गुरु-गर्जन से आकाश-प्रान्तर, दिग्-दिगन्त प्रतिध्वनित होने लगा। एक महाप्लावन की ~~की~~ सूचना समझ कर प्रकृति जैसे सँज्ञाहीन हो गयी। मैं तन्मय होकर बाहर की ओर देखने लगा। आज का यह दृश्य देखकर मुझे बहुत दिन पहले की एक बात याद आयी। वह भी सावन का एक ऐसा ही बादल-भरा दिन था। अपने रामप्रसादपुर के देहाती घर के कमरे में मैं उस वक़्त बैठा था। पास ही बहने वाली शिलाई नदी के किनारे-किनारे, उसके दोनों पार के दिगन्तव्यापी श्यामल प्रान्तर के माथे पर उस दिन भी इसी तरह मेघ की घटा घिर आयी थी। इसी तरह, देखते-ही-देखते, उस दिन भी सारी पृथिवी अन्धकार से
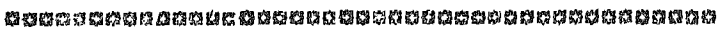
आवृत हो गयी थी, बहुत दूर पर प्रान्तर-सीमा में गाँव की रेखाएँ अन्धकार में फस्सा होती जा रही थीं और उस अन्धकार में देवराज इन्द्र मानो बीच-बीच में अपने रोषोद्दीप्त आँखों की विद्युद्दृष्टि से आँखें भुलसाते हुए वज्रनिर्घोष से बार-बार धरित्री का शासन कर रहे थे। उस दिन भी प्रकृति का यह दृश्य देखते-देखते मैं आत्मविस्मृत हो गया था। आज दीवार में लगी हुई सन्ध्या की यह तस्वीर मेरी ओर देख रही है, उस दिन स्वयं सन्ध्या ने ही आकर मेरा ध्यान भङ्ग किया था। उसदिन सन्ध्या ने मेरे पास आकर कहा—"कैसा भयानक दुर्योग है! जैसे पृथ्वी रसातल में चली जायगी!"

मैंने बाहर के उस दुर्योग की ओर ही आँखें गड़ाये-गड़ाये कहा "कितना सुन्दर है सन्ध्या, कितना सुन्दर! जीवन मेरा सार्थक हो गया! भगवान् मुझे इसी तरह बीच-बीच में दर्शन दिया करते हैं। आज कोई काम नहीं सन्ध्या! सब काम छोड़-कर, यहीं मेरे पास बैठकर आज तुम भी जी भरकर भगवान् का अनुभव करलो!"

सन्ध्या ने कहा—"तुम्हें सब उल्टा ही समझता है। इस प्रलय में तुम भगवान् देखते हो!"

"सचमुच सन्ध्या! मुझे ऐसे ही समय में उनके विराट् रूप का दर्शन होता है।"

"तो अपने भगवान् को दिखादो यह। जिस तरह आसमान फाड़कर पानी बरस रहा है, उससे तो मालूम पड़ता है, सारा संसार ही बह-बिला जायगा। देखते नहीं हो?"
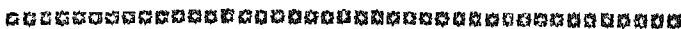
"लेकिन बैठे-बैठे सिर्फ़ देखने से ही तो काम न चलेगा। एक बार काशी जाकर 'बड़की' को देख आना पड़ेगा। आज फिर उसकी चिट्ठी आयी है।" यहाँ यह बतला दूँ कि पहले-पहल सम्बन्ध के हिसाब से सन्ध्या सीता को दीदी ही कहना चाहती थी, पर सीता ने उसे किसी तरह यह कहने का अधिकार न दिया। इधर सन्ध्या ने भी सीता को पहले की तरह बहनजी न कहने दिया। तब दोनों ने मिलकर एक समझौता किया—सन्ध्या सीता को 'बड़की' कहे और सीता सन्ध्या को 'छोटकी'।

सन्ध्या ने कहा—"हाँ, एक बार काशी जरूर जाओ और अगर बड़की की तबियत ज्यादा ख़राब हो तो उसे यहीं बुला लाओ। हृदय का रोग हो या शरीर का, यहाँ का जलवायु अच्छा है, वह यहाँ जल्द ही अच्छी हो जायगी।"

मैंने कहा–"मैं तो जाऊँ; पर तुम बिनू दादा का हाल जानती हो, वे किसी तरह काशी छोड़ना नहीं चाहते।"

"न होगा वे न आवेंगे, वहीं रहेंगे।"

"भाभी को छोड़कर? पहले के बिनू दादा होते तो यह भी संभव था।"

"सचमुच ही, यह भाईजी को क्या हो गया है। जो आदमी क्षणभर भी घर में न रहता था, वह इस तरह सब काम-धाम छोड़कर चौबीस घण्टा बड़की को आँखों के सामने लिये घर के कोने में बैठा रहेगा, यह तो स्वप्न के भी परे की बात है। अहा, हमलोगों के साथ रहने की बड़की को कितनी साध है। वह

कितने दुःख से चिट्ठियाँ लिखा करती है। मुझे तो उसकी चिट्ठी पढ़-पढ़कर रोना आता है।"

उस समय मूसलधार वृष्टि हो रही थी। मतवाली वायु वर्षा के साथ होड़ लगाकर 'शिलाई' के उस पार के धान के पौदों को तहस-नहस कर रही थी। उसी ओर देखती हुई सन्ध्या ने कहा— "तो कब जाओगे, बोलो ?"

"अगर वर्षा आज बन्द हो गयी तो कल ही चला जाऊँगा। पद्मा को भी देखने को बहुत जी कर रहा है।"

आसमान में जितना पानी था, शाम तक वह सब ढरकाकर देवता शान्त हुए। दूसरे दिन रामप्रसादपुर राह-बाट-मैदान प्रभात सूर्य के आलोक से विकसित हो उठा। दो पहर के बाद, भोजन आदि कर के मैं भी अपने गाँव के छोटे-से स्टेशन पर आकर गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगा।

पहले ही कह चुका हूँ कि उपन्यास का नाम देकर लिखने पर भी इस पुस्तक में घटनाओं की शृङ्खला अथवा कहानी की धारा-वाहिकता, कुछ भी नहीं है। सुतरां बिनू दादा के विवाह के बाद वाले कई वर्षों के बारे में जब मैंने कुछ नहीं लिखा तो इस छोटे से गाँव-गँवई के बारे में न-ही कुछ लिखा ! सिर्फ इतना ही कह दूँ कि साल में तीन-चार महीने मैं इस गाँव में आकर बिता जाया करता हूँ। इस सम्बन्ध में जो दो-चार आवश्यक बातें कहे बिना काम नहीं चल सकता, उन्हें कहकर तब आगे बढ़ूँगा।

बिनू दादा के ब्याह के बाद ही ताऊजी का स्वर्गवास होगया।

अगले साल भाभी भी मातृहीना हो गयीं और उसी साल अच्छी जगह पाकर उसके मामा भी काशी छोड़कर जबलपुर चले गये।

काशी का वह घर ताऊजी ख़रीद गये थे। उसी घर में बिनू दादा ने आसन जमाया था। इन कई वर्षों में बिनू दादा एकबार भी कालीघाट नहीं आये, और कभी आवेंगे इसका भी कुछ लक्षण नहीं दीख पड़ता। इन कई वर्षों में मैं कई बार काशी गया, क्योंकि पद्मा को बहुत दिनों तक देखे बिना मैं नहीं रह सकता था। अब तो वह कुछ बड़ी हो गयी है, जब नहीं थी तो वह भी मुझे देखे बिना घरभर को तङ्ग कर डालती थी। आज जो इस 'धारा-श्रवण' की भरी हुई बरसात माथे पर लेकर मैं सुदूर बँगाल से काशी जा रहा हूँ, यह जितना भाभी और बिनू दादा के लिए है, उससे कहीं अधिक पद्मा के लिए। इसीसे थोड़ी देर बाद जब गाड़ी आयी तो मैं उसी की बात सोचते-सोचते गाड़ी पर जा बैठा।

[१६]

"देवर बाबू, अब कैसे हो भाई ?"

"अच्छा हूँ भाभी ! तुम्हारी पूजा हो गयी ?"

काशी आने के कुछ दिन बाद ही मुझे ज्वर आ गया था। कई दिनों के बाद आज ज्वर उतरा था। बिनू दादा के गङ्गा-किनारे वाले मकान में, खिड़की के पास आरामकुर्सी खींचकर भादों की भरी हुई गङ्गा की ओर देख रहा था। उसी ओर देखते रहकर मैंने भाभी से पूछा–"आज अभी ही तुम्हारी पूजा होगयी भाभी ?"

लाल किनारे वाली मटमैली साड़ी पहने हुए भाभी जमीन पर बैठ गयीं। बोलीं—"अब पहले की तरह पूजा में बहुत देर तक जी नहीं लगता।"

"तबियत अच्छी न हो तो लगाना भी न चाहिये।"

"न भाई, ऐसी बात मत कहो। इसी बीमार शरीर से उनको पुकारते-पुकारते ही इस पुकार का अन्त हो जाय तभी अच्छा है, लेकिन यह भी तो नहीं होता !"

"क्यों भाभी ! ऐसी बात क्यों कहती हो ? तुम्हारी जैसी गुणवती स्त्री अभीतक हमारे परिवार में नहीं आयी थीं। तुम ऐसी बात मुँह से न निकालो। तुम हमारे घर की लक्ष्मी हो।"

"देवर बाबू, मैंने वही होने की आशा की थी, पर हो नहीं

सकी। जो चाहा था, वह मैं पा नहीं सकी, इसी का तो मुझे दुःख है। मैं ने चाहा था घर-परिवार में रहकर, सबके सुख-दुःख की भागी बनकर रहूँगी, पर यह नहीं हो सका। मेरी अपनी सास न हों, फिर भी एक तो घर में हैं—और उनके रहते भी कहाँ मैं हूँ, कहाँ वो हैं! आज कहाँ मैं हूँ, कहाँ देवर और घरके लड़के-बच्चे हैं। मुझे इस तरह निर्वासिता बनकर रहना होगा, यह मैंने कभी न सोचा था!

"ऐसे तो बहुत से लोग रहते हैं भाभी!"

"जो रहते हैं, वो रहें, जन्म-जन्मान्तर रहें, पर मुझ से तो नहीं रहा जाता। विवाह के बाद मन में कई इच्छाएँ उठीं, पर कहाँ उनमें एक भी पूरी हो सकी! बीमारी तो मुझे यही है देवर बाबू! यह क्या मेरे शरीर की बीमारी है कि छोटकी मुझे प्रसाद-पुर बुलाकर अच्छा कर लेगी? यह बीमारी मेरी अच्छी न होगी भाई! इन कई दिनों में सबकुछ तो तुमको बतला चुकीहूँ।"

"अच्छा, बिनू दादा ने कुश्ती वगैरह सब एकबारगी छोड़ दिया। अबतो शायद मिशन में भी नहीं जाते।"

भाभी चुपचाप बैठी रहीं।

मैंने कहा—"इतनी कुश्ती को झोंक, पूजा-पाठ का इतना नशा, पढ़ने-लिखने की इतनी बाई, यह-सब एकबारगी छोड़-छाड़ कर बिनू दादा ऐसे हो जायँगे, यह तो स्वप्न में भी कभी......"

"बोलो भाई, बोलो, कभी यह सोचा था? क्या कभी यह सोचा था कि देश छोड़कर, घर छोड़कर, अपने आदमी छोड़कर

दुनिया का सब काम-धाम अलग रखकर, सिर्फ मुझे लेकर इस तरह बैठे रहेंगे ? मेरे 'ऐसे' स्वामी जो इस तरह के हो गये, यह मेरे ही पूर्व जन्मों का पाप है। नहीं तो मैंने जैसा स्वामी पाया था, वैसा बहुत कम स्त्रियों के भाग्य में होता है। ऐसा रूप, ऐसा स्वास्थ्य, ऐसा उदार हृदय, प्रशस्त मन, ऐसी शिक्षा, ऐसी शक्ति और सबकी अपेक्षा ऐसी ईश्वर-भक्ति, इतने गुण एक व्यक्ति में बहुत कम पाया जाता है। इसीसे विवाह के समय देवता समझ कर ही उनको वरण किया था। उस समय क्या जानती थी कि मुझ अभागिनी के भाग्य-दोष से देवता मेरे पत्थर होकर जमीन में लुढ़कते फिरेंगे! मैंने स्वामी को स्वामी की भाँति ही चाहा था, कभी इस बात की कामना नहीं की कि संसार का सब काम छोड़-कर दीन भिखारी की तरह वे दिन-रात मेरे मुँह की ओर देखते रहें। अतुल सम्पदा के अधिकारी होकर भी यदि वे इस तरह वह सब नष्ट कर डालें और भिक्षा की झोली हाथ में लेकर मेरे सामने आ खड़े हों, तो मुझे भिक्षा देकर कौन मेरी दीनता मिटावेगा ? तब मैं किसपर निर्भर होऊँगी ? अगर वही इस तरह नीचे उतर पड़ेंगे तो कौन मेरा हाथ पकड़कर मुझे ऊँचा उठावेगा देवर बाबू ?"

चुपचाप गंगा की ओर मुँह करके गंगा देखने लगा। थोड़ी देर रुककर भाभी फिर कहने लगीं—"बड़ा कष्ट है देवर बाबू, बड़ा कष्ट है! देवता के समान स्वामी पाकर भी सब मेरा धूल में मिल गया। इसी दुःख से मेरी यह बीमारी है। यह बीमारी क्या दवा-दर्पण से या हवा-पानी बदलने से दूर हो सकती है ?

भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि यह रोग न-ही अच्छा हो। मेरे कारण आज उनकी जो शक्ति, जो ज्ञान और जो महत्व हीन हो गया है, मेरी अनुपस्थिति में यदि वह पुनः उन्हें प्राप्त हो सके तो मेरा मरण ही सार्थक है।"

सहसा गंगा के जलपर छाया पड़ गयी और धीमी-धीमी वर्षा होने लगी। भाभी थोड़ी देर तक अपलक आँखों से दीवार की ओर देखती रहकर बोलीं—"ऑयल पेन्टिङ्ग वाली यह मेरी तस्वीर जहाँ लटक रही है, पहले वहाँ जगद्धात्री की एक तस्वीर टँगी हुई थी, उसे हटाकर वहाँ यह मेरी तस्वीर—छिः, छिः—जब इस ओर मेर नज़र पड़ती है, लज्जा से मर जाने को जी करता है। और, उसके सिवा दीवार में चारों ओर जो मेरी ही तरह-तरह की तस्वीरें लगी हुई हैं, उनकी क्या जरूरत थी? तुमसे क्या कहूँ देवर बाबू, वे क्या थे क्या हो गये, यह तो तुम पाँच-छः साल से देखते आ रहे हो। इन सबों के बाद जो एक नयी चीज़ शुरू की है, उसकी चिन्ता से मैं अलग मरी जा रही हूँ। वह बात तो तुम जानते होओगे?"

"क्या?"

"वह बात तुमसे कहते भी मुझे शर्म मालूम होती है।"

"क्या?......स्वभाव-चरित्र का कुछ......"

"वह सब नहीं" कहकर और क्षणभर चुप रहकर भाभी ने कहा—"छिपाकर ही मैं क्या करूँगी? दो-तीन महीने से उन्होंने थोड़ी-थोड़ी शराब पीना शुरू कर दिया है।"

मैंने देखा, भाभी के मुँह पर असन्तोष और विषाद की छाया घिर आयी थी। उनकी उन दोनों बड़ी-बड़ी आँखों की दीप्ति म्लान हो गयी और उनकी जगह आँसू भर आये। भाभी की बात सुनकर मैं मन-ही-मन चौंक उठा, लेकिन अपना यह भाव उनपर प्रकट न होने दिया। मैंने कहा—"नियमित रूप से थोड़ा-थोड़ा पिया जाय तो वह कुछ बुरा नहीं है, बल्कि उससे शरीर में फुर्ती ही आती है। आजकल तो बहुत-से लोग—"

मेरी बात भाभी ने पूरी भी न होने दी। बीच ही में रोककर विरक्तिपूर्वक बोलीं—"ऐसी बात न करो देवर बाबू! यही बात तुम्हारे भैया भी कहते हैं। लेकिन, मैं तो जानती हूँ कि इस थोड़े-ही-थोड़े से सर्वनाश हो जाता है। मैंने भी बहुत देखा है बाबू! मेरे एक छोटे मामा थे। उन्होंने भी पहले इसी तरह थोड़ा-थोड़ा शुरू किया, आखिर लिवर पक गया, ख़ून उगल-उगलकर मरे। मैं कहती हूँ, उसकी जरूरत ही क्या है? शरीर में उसके बिना भी फुर्ती रह सकती है। वह कैसी सर्वनाशिनी चीज है, यह मैं जानती हूँ। इसी से चिन्ता के मारे मैं दिन-रात घुलती जा रही हूँ।"

"बिनू दादा को ठीक तरह से समझा-बुझाकर छुड़ा देने से ही ठीक हो जायगा। आज मैं उन्हें समझा दूँगा।"

"उससे क्या होता है? कहने-सुनने में क्या मैंने कुछ उठा रक्खा है? जानते तो हो, कैसे आदमी हैं! जो जिद पकड़ ली, उसे छुड़ा सके, ऐसा कोई आदमी दुनिया में है? कहो तो कोई बात सुनते हैं? कहते हैं—"श्रीकृष्ण पीते थे, बलराम पीते थे,

भीम पीते थे, अर्जुन पीते थे, देवता पीते थे, ऋषि-मुनि पीते थे। देखो भला, यह भी कोई बात है। कभी-कभी तो जी में आता है, आत्महत्या करके इन सब झंझटों से छुटकारा पा लूँ।" कहकर भाभी शून्य दृष्टि से जमीन की ओर देखने लगीं। मैंने बात फेरने के लिये पूछा—"अच्छा भाभी, तुम्हारी माँ कितने रुपये छोड़ गयी थीं?"

"बाबूजी तो अधिक कुछ छोड़ न गये थे, बड़े खर्चीले थे वे, जो बीस-बाईस हजार छोड़ गये थे, माँ ने वह सब उनके हाथों सौंप दिया था। लेकिन, अब उसमें से शायद एक फूटी कौड़ी भी न बची होगी। मालूम होता है, उस सब को निश्चिन्त करके ही बैठे हैं। करें, मुझे इसका कुछ दुःख नहीं है; यदि शान्तिपूर्वक भूखे-प्यासे पेड़ के नीचे भी रहना पड़े तो मुझे दुःख न होगा।—देखो न, मैं कैसी हूँ? अभी तक तुम्हें कुछ खिलाया-पिलाया भी नहीं और बैठी-बैठी मजे में गप्प हाँक रही हूँ। बाबू, क्या खाओगे? इतनी देर हो गयी, तुम्हें कुछ ला दूँ अब!"

"इस वक्त और कुछ न खाऊँगा भाभी अगर अदरख की थोड़ी-सी चाय······"

मूर्त्तिमती विषाद-प्रतिमा की तरह भाभी धीरे-धीरे चली गयीं। मैं बिनू दादा की बात सोचते-सोचते कमरे में टहलने लगा। टेबिल के ऊपर बिनू दादा की जिल्द बँधी चकमक डायरी रक्खी हुई थी। उसे उठाकर टहलते-टहलते मैं उसके पन्ने उलटने लगा। सहसा मन में आया कि यह बिनू दादा की डायरी है, इसे पढ़ना

उचित न होगा; फिर भी उचित को गलबहियाँ देकर उसका एक पृष्ठ पढ़े बिना मैं न रह सका। जो पढ़ा, वह यों था—

२२ बुधवार,

"सीता के शरीर की अवस्था देखकर दिन-दिन मुझे बहुत भय होता है। भगवान् क्या अन्त में इस स्वर्गीय पारिजात को मुझ से छीन लेंगे? नहीं जानता, मेरे अदृष्ट में विधाता का क्या विधान है! सीता को स्त्री रूप में पाकर मैंने जिस सुख और शान्ति का अनुभव किया था, वह कितनों के भाग्य में होता है? लेकिन दुःख की काली छाया क्यों आ-पड़ती है—इस शान्ति में दुश्चिन्ता का विष मिश्रित होकर क्यों मेरे प्राणों के गम्भीर आनन्द को इस प्रकार नष्ट कर देता है? था मैं दरिद्र भिखारी, रत्न का मोल समझता न था—भगवान् ने भिखारी के हाथ में जगत् का सर्वश्रेष्ठ रत्न दे दिया, देकर क्या फिर वे उसे छीन लेंगे? वे क्या ऐसे निष्ठुर हो जायँगे? यदि ऐसा ही है, तो उन्हों ने यह रत्न दिया ही क्यों? उन्हों ने अगर मुझ-जैसे दीन-दरिद्र के हाथ में वह रत्न दिया है तो मैंने भी उसे वैसे ही यत्नपूर्वक रखा है—एक क्षण के लिए भी उसे आँखों से ओझल नहीं होने दिया। क्षणभर के लिए मैं सीता को नहीं देख पाता तो मेरा मन अस्थिर हो जाता है, जगत् मुझे सूना मालूम पड़ने लगता है। क्षणभर के लिए जिसका वियोग मैं नहीं सह सकता, यदि उसका फिर-वियोग हो तो कैसे उसे बर्दाश्त कर सकूँगा? सचमुच ही यदि तुम दयामय हो तो मुझे सीता के जीवन की भीख दो। इसके

सिवा मैं और कुछ भी नहीं चाहता—धन-दौलत, स्वास्थ्य, कीर्ति प्रतिपत्ति, ज्ञान, पुण्य, कुछ भी नहीं। मैं चाहता हूँ सीता को—अपने प्राणों की सीता को—अपने जीवन-मरण की चिर-सङ्गिनी सीता को! अपनी—"

सीढ़ी पर बिनू दादा के गले की आवाज़ सुन पड़ी। डायरी मैंने बन्द कर के चुपचाप रख दिया। बिनू दादा ने घर में घुसकर कहा—'यह सब तो अब मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता और वे ऐसे ज़िद्दी हैं…"

"वे कौन बिनू दादा ?"

"वे सब स्कूल के लिए आये थे, अभी भी बैठे हुए हैं—क्या मुश्किल है!" कहकर और सन्दूक में से कुछ काग़ज निकाल कर बिनू दादा फिर झटपट नीचे उतर गये।

भाभी मेरे लिए चाय लेकर आयीं बोलीं—"इस बालिका विद्यालय के लिए एक दिन न-जाने कितनी तरद्दुद उठायी थी। नहाना-खाना भूलकर घर-घर चन्दा माँगते फिरते थे—फिर भी क्या फण्ड पूरा हो सका था? अन्त में जब दो-तीन हज़ार रुपये कम पड़े तो उन्हों ने अपने पास से दे दिया। वे न होते तो क्या स्कूल का निज का भवन कभी बन सकता था? एक दिन था जब स्कूल के लिए कितना परिश्रम, कितनी चेष्टा की थी इन्होंने; आज वे लोग आकर बैठे हैं, तो इन्हें चिढ़ आती है। देखते हो बाबू?

चाय पीते-पीते मैंने कहा—"बालिका-विद्यालय का निजका भवन तो बन गया है न?"
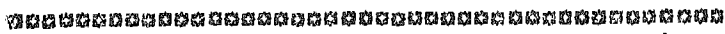
"हाँ; और इसी लिए आज वे एक उत्सव करना चाहते हैं।"

बिनू दादा ने घर में घुसते ही कहा—"और उस सभा में मुझे जाना ही होगा, वे यही कहने आये हैं। आज मेरे गये बिना काम ही न चलेगा, सब काम नष्ट हो जायगा, आसमान टूट पड़ेगा, पृथ्वी का काम-धाम सब अचल हो जायगा।"

मैंने कहा—"तुम तो स्कूल के संस्थापक हो बिनू दादा, तुम्हें जाना तो चाहिए ही।"

"बको मत। जो कुछ करना था, वह सब तो करके रख दिया—अब क्यों मैं तंग किया जाता हूँ? खैर,—तुम आज अच्छे तो हो? उस वक्त चले चलेंगे। चल सकोगे? घंटे डेढ़ घंटे रहकर चले आवेंगे!"

तीन दिन के उपवास से शरीर बहुत दुर्बल होगया था, फिर भी शाम को स्कूल के जल्से में जाने का लोभ न रोक सका। धीरे धीरे सड़क तक आकर एक गाड़ी करके हम लोग स्कूल आये। स्कूल का मकान दुतल्ला था, आम रास्ते पर। ऊपर स्कूल लगता था, नीचे के कमरे किराये पर दुकानों के लिए उठाये जाते थे, नीचे के बड़े हाल में सभा का आयोजन किया गया था।

सभा में बिनू दादा को खूब सम्मानित किया गया। फूलों की माला से उनका शरीर ढक गया। सभापति ने अपने व्याख्यान में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। मैंने सोचा कि अन्त तक इस सम्मान और फूलों की माला के बोझ से बिनू दादा का पिण्ड न छूट सकेगा। मुझसे अब और न बैठा जाता था। धीरे-धीरे सभा स्थल से उठकर बाहर आया और एक गाड़ी पर जा बैठा।

उस समय भी शाम होने में देर थी। गाड़ी से उतरकर गली में मैं दस-पाँच गज गया होऊँगा कि एक मकान के छज्जे से किसी ने दो-तीन बार मेरा नाम लेकर पुकारा। ऊपर की ओर देखा, अधेड़ उम्र की एक सजी-बनी औरत थी—माथे पर बिन्दी लगी हुई, बालों की पट्टे भौंहों तक झुका कर निकाली हुई, चौड़े पाड़ की सफेद साड़ी पहने, माथे पर काँच की टिकुली—बराण्डे की रेलिङ्ग से मुँह बढ़ा कर हँस रही थी। उसकी ओर देखते ही वह बोली—"पञ्चू बाबू, सामने के दरवाजे से घुसते ही दाहिनी तरफ सीढ़ी है। जरा ऊपर चले आइये।" जिसने बिलकुल परिचित की तरह हँसते-हँसते अभ्यर्थना की, उसको कभी मैंने देखा है यह याद न आया; फिर भी कौतूहलवश मैं अन्दर चला गया और सीढ़ी के पास जाते ही देखा कि एक खर्वाकृति कृष्णवर्ण ब्राह्मण, गले में जनेऊ लटकाये धम्-धम् करके सीढ़ीयाँ उतरते आ रहे थे। पास आते ही मैंने उन्हें पहचाना—"यह क्या नन्दी महाशय !! यहाँ······।"

इशारे से मुझे मना करते हुए उन्होंने साँय-साँय करके जो कुछ कहा, उसे सुन न सकने पर भी उसका अर्थ मैं खूब समझ गया। उन्होंने कहा—'चुप-चुप' मेरा नाम लेकर न पुकारियेगा। यहाँ सबलोग मुझे घोषाल बाबू के रूप में जानते हैं।" कहकर उन्होंने घर के दूसरे किरायेदारों के कमरे की ओर एकबार झटपट देख लिया और फिर मेरा हाथ पकड़कर ऊपर ले गये।

कमरे की जमीन पर एक ओर साफ-सुथरा बिछावन बिछा

हुआ था। मुझे उसी पर बिठाकर नन्दी महाशय ने कहा—"कई दिनों से गला बैठ गया है, आज सबेरे से मुँह से आवाज ही नहीं निकलती। इसीसे कामिनी को पुकारने को कहकर मैं नीचे उतरा जा रहा था। बहुत दिनों बाद आप से मुलाकात हुई भाई, बहुत सी बातें कहनी हैं। इन कई वर्षों के अन्दर मेरे जीवन के ऊपर से होकर एक तूफ़ान ही बह गया है!"

"तूफ़ान ही का तो यह संसार है।…बात क्या हुई?"

"सब कहूँगा भाई!…कामिनी, पञ्चू बाबू को पान तो दो!"

श्रीमती कामिनी उस समय पान ही का साज-सामान लिये बैठी थीं। मैंने कहा—"पान तो मैं खाता नहीं, आपको मालूम है।"

"ठीक ठीक, मैं भूल गया था। अच्छा संक्षेप में ही सब कहता हूँ। फिर कभी ब्यौरे से कहूँगा। ठहरे आप कहाँ हैं? बीच बीच में मिलता रहूँगा। आपभी पैरों की धूल दीजियेगा भाई! घर तो आपने पहचान लिया न? इस बगीचे में आकर घोषाल बाबू का नाम लेकर पूछियेगा तो सभी बतला देंगे। गणेशजी के मन्दिर की पीठ पर समझिये!"

बैठे-बैठे मैंने थोड़ी ही देर में कमरे का निरीक्षण कर लिया। उस एक ही कमरे में सारी चीजें क़ायदे से सजाई हुई थीं। घरमें और सामानों के साथ एक सजीव सामान भी था—पिंजड़े में लटकता हुआ। मुझे देखकर हो या किसी और वजह से, वह बहुत शोर करने लगा तो कामिनी उठकर उस ओर चली गयीं। इधर नन्दी महाशय ने कहना शुरू किया—"सुनो भाई, तुम तो

नौकरी छोड़कर इधर चले आये, उधर बड़े साहब भी विलायत चले गये। उसके बदले आया एक पाजी फिरङ्गी। आने पर एक महीना होते-न-होते मुझसे कहने लगा—"नन्दो तुम काम-काज कुछ नहीं समझते, धोखा देकर तनख्वाह लेते हो। तुम्हारी जगह मैं दूसरा आदमी बहाल करूँगा।" मैं किस तरह का 'अपर-राइट' आदमी हूँ, यह तो आप जानते ही हैं–मुझको कहने लगा धोखा देते हो! मैंने भी मुँहतोड़ जवाब दिया—"Very good if you not like, I dont more come, I dont care for this 21 rupee post;" ऐसा अहङ्कार था उसे पञ्चू बाबू, कि उसी दिन उसने मुझे डिसमिस कर दिया। अरे, मैं क्या डिसमिस से डरने वाला हूँ, कि मेरे जैसे⋯से? बड़ा साहब था एकदम ऋषि, उसकी खुशामद करता था, इसलिए क्या तेरी भी करूँगा? मैं वैसा आदमी ही नहीं हूँ।"

"फिर क्या किया आपने?"

"रिज़ाइनिङ्ग देकर चला आया। आते समय मुँह पर कह आया "Very good but बिना कसूर के मेरी fifteen years service you doing dismiss, but if God is in heaven your punish you must see."

"फिर?"

"फिर तो कुछ दिन बड़े कष्टों से बीते। जानते हो बाहर से कहीं एक पैसे की आमदनी न थी। जो तनख्वाह पाता था, उसी से तीन प्राणियों का किसी तरह निर्वाह होता था।"

"आपके बाल-बच्चे तो थे नहीं—क्यों?"

"नहीं भाई, यही एक स्त्री और एक लड़की। सो छ महीने के भीतर ही भगवान् ने सुविधा कर दी—स्त्री का सहसा शरीरान्त हो गया। तब लड़की को उसके मामा के यहाँ पहुँचाकर चला आया काशी। सुना था कि अन्नपूर्णा की नगरी में किसी को उपवास नहीं करना पड़ता। लेकिन यहाँ आकर देखा कि ब्राह्मण के लिए ही उसकी ज्यादा सुविधा है, फलतः यहाँ आने पर भी कुछ दिनों तक बड़ा कष्ट रहा। उसके बाद एक दिन विश्वनाथ बाबा के चरणों में सिर झुकाकर मैंने कहा—"बाबा, क़सूर माफ करना, आज से तुम्हारा सातकौड़ी नन्दी सातकौड़ी घोषाल हुआ" कहकर उसी दिन से गले में यह जनेऊ लटका लिया।"

मैंने कहा—"ख़ूब किया है! ब्राह्मण बनने के बाद तो फिर आपको कोई कष्ट नहीं हुआ?"

"नहीं भैया, तुम्हारी दया और बाबा विश्वनाथ के आशीर्वाद से अब तो बड़े मजे में हूँ। अब जीना ही कै दिन है! इसी तरह बाक़ी दिन बिताकर उनके चरणोंमें जगह पा लूँ, यही बहुत है।"

"अच्छा, नन्दी बाबू—"

"यह नहीं भैया! घोषाल—"

"ओ हो! भूल गया था, अच्छा, घोषाल महाशय!"

"भैया?"

"यह औरत कौन है?"

"वो है" कहते-कहते इशारे से उन्होंने कुछ कहा, मैं कुछ भी न समझकर चुपचाप उनके मुँह की ओर देखता रहा। नन्दी

महाशय ने कहा—"उनका भी और कोई नहीं है। ब्राह्मण कन्या है, मेरे ही आश्रय में रहती है, या कहिए, मैं ही उनके आश्रय में रहता हूँ। बड़ी सती-लक्ष्मी है वो।"

"यह तो देख ही रहा हूँ। तो, यहीं आपने उनको पाया है ?"

"सब बाबा विश्वनाथ की इच्छा है" कहकर उन्होंने हाथ जोड़कर उसे सिर से छुआया। मैं भी उठ खड़ा हुआ। बोला—"अच्छा, अब मैं चलूँ। तबियत ठीक नहीं है नन्दी—घोषाल महाशय, शाम भी हो चली।"

नन्दी महाशय मेरे साथ-साथ फाटक तक आये। घर आकर देखा, बिनू दादा अभी सभा से न लौटे थे। भाभी के साथ गप-शप करते करते जब झपकी आने लगी, घड़ी ने उसीसमय टन्-टन् करके ग्यारह बजाये। तबतक बिनू दादाके घर न लौटने से भाभी कुछ चिंतित हो गयीं। उस दिन शाम से उनकी तबियत भी ठीक न थी। मैंने कई बार लक्ष्य किया कि वे अपने हृदय की किसी असह्य वेदना को दोनों हाथों से दबाकर अन्दर ही छिपा रखने का प्रयत्न कर रही हैं। भाभीको और बैठी न रहकर सोने जाने को कहा और अपने कमरे में आकर, रोशनी बुझाकर मैं भी चुपचाप सो रहा।

न-जाने कितनी देर बाद,बिनू दादा के कमरे से कुछ हड़बड़ाहट की आवाज सुनकर मेरी नींद खुल गई। घबराहट में मैं उठ बैठा और बिनू दादा के कमरे में जाकर देखा कि भाभी बेहोश होकर छिन्न-लता की तरह जमीन पर पड़ी हुई हैं और बिनू दादा एक हाथ से उनके मुँह पर पानी के छींटे दे रहे और दूसरे से पंखा झल रहे हैं।

झटपट इस कमरे में दौड़ जरूर आया, लेकिन कुछ समझ न सका। बिनू दादा से पूछने का भी अवकाश न मिला। घर में घुसते ही उन्होंने कहा—"पञ्चू, इस घर की सीध में, चार-पाँच मकान के बाद डाक्टर सुशील चौधरी का घर है। जरा उन्हें बुला ले आ सकते हो? दरवाजे पर साइनबोर्ड लगा हुआ है, देख लेना। मेरा नाम लेकर बुलाते ही—। जरा जल्दी!—" उनकी पूरी बात की प्रतीक्षा किये बिना ही मैं झटपट घर से बाहर निकल गया।

प्रायः पन्द्रह मिनट के अन्दर मैं डाक्टर के साथ वापस आ गया। बिनू दादा का नाम सुनते ही वे जैसे-थे-वैसे उठकर मेरे साथ हो लिये। घर आने पर बिनू दादा ने उनसे कहा—"बीच-बीच में इनके हृदय में दर्द हुआ करता था, उसी के लिए एक दवा लाकर रक्खी थी। आज लगभग आधा घन्टा पहले उसी को पीने के बदले गलती से पास रक्खी हुई ब्राण्डी में से प्रायः एक आउन्स पी गयीं। पीने के साथ ही Senseless हो गयीं और यह हालत हो गयी!" डाक्टर चौधरी ने कहा—"एक आउन्स ब्राण्डी पीने से तो कोई Senseless नहीं होता, उनको क्या पहले फिट-विट आया करते थे?" बिनू दादा ने कहा—

"खूब कम—कभी-कभी ! मनमें ज्यादा दुःख था। क्रोध होने पर हो जाया करता था।"

"ख़ैर, उसी से हो गया है" कहकर डाक्टर ने थोड़ी देर तक भाभी की नाड़ी और हृदय की परीक्षा की। बोले—"कुछ डर नहीं है, नाड़ी ठीक चल रही है। लेकिन इनका Heart बहुत Weak है,—बहुत, बहुत। Heart के बारे में ज़रा Care रखिएगा बिनू बाबू !"

डाक्टर के साथ फिर उनके घर जाकर मैं दवा लेआया। उसे पिलाने के प्राय: पाँच मिनट बाद भाभी को होश आने लगा और कुछ देर में पूरी चेतना लाभ करके वे करवट बदलकर वहीं पर सोगयीं।

दूसरे दिन गङ्गा के सामने वाले बरामदे में बैठकर भाभी से गपशप कर रहा था। पिछली रात जागने के कारण बिनू दादा तितल्ले पर सो रहे थे। मैंने पूछा—"सचमुच ही भाभी, तुमने दवाई के बदले ब्राण्डी पी ली थी ?"

"हाँ।"

"सच कहती हो ?"

मुँह नीचा करके भाभी ने मृदु स्वर में कहा—"सच।"

"लेकिन मुझे मालूम होता है—झूठ।" मैंने ज़रा देर चुप रहकर फिर कहा—"काशी में झूठ बोलने से जानती हो क्या होता है ?"

"जानती हूँ। जो होता है, वह काशी में बोलने से भी और कलकत्ता में भी।" कहकर भाभी झटपट दूसरे कमरे में चली गयीं।

प्राय: दो ही मिनट बाद भाभी फिर लौट आयीं। उनके मुँह पर वेदना और विरक्ति का भाव था। बड़ी-बड़ी दोनों उथली

आँखों के अन्दर शायद कुछ आँसू भी भर आये थे। उन्हीं आँखों से मेरी ओर एकटक देखते हुए, दबी हुई उत्तेजना के साथ उन्होंने कहा—"सच नहीं है।"

"क्या भाभी?"

"ग़लती से ब्राण्डी पीना।"

"तो?"

"तो?" कहकर भाभी मेरे सामने बैठ गयी—"कहो, कभी किसी के सामने यह बात कहोगे तो नहीं?"

"नहीं।"

"कहोगे तो मेरा सिर खाओगे, मेरा मरा मुँह देखोगे।"

"अच्छा।"

"कल सब बातों में से मैंने यही बात छिपा रक्खी थी बाबू, उसे आज नहीं छिपा सकी।" क्षणभर चुप रहकर भाभी ने फिर कहा—"वो खुद तो पीते ही हैं, मुझे भी पिलाने के लिए न-जाने कितना लालच दिया करते हैं। कहते हैं, 'तुम्हारे कलेजे का दर्द-वर्द सब अच्छा हो जायगा। भूख लगेगी। अन्न पचेगा। चेहरा सुन्दर हो जायगा।' न-जाने इसके लिए उन्होंने कितनी कोशिश की है, पर कभी पिला नहीं सके। कल न जाने मेरी क्या मति होगयी!"

"कल तुमने ख़ुद ही पी लिया भाभी?"

"उस चीज़ को अपने आप ही पी लूँगी?"

"तो—?"

"वही तो कह रही हूँ। कल जब वो लौटे तो बारह बज रहे

थे। बाएँ हाथ की कलाई पर जूही के फूलों की माला लिपटी हुई थी, आँखें ढलमला रही थीं। देखते ही समझ लिया कि आज बाहर से ही पी आये हैं। मेरे कलेजे का दर्द उस वक़्त इतना बढ़ गया था कि मेरे मुँह से आवाज़ तक न निकलती थी। उन्होंने कहा—"तुम्हारे कलेजे के दर्द के लिए एक दवा लाया हूँ। एक ख़ुराक पी लो, अभी सब अच्छा हो जायगा।" न-जाने क्यों कल उनकी बात का विश्वास कर लिया। ज़मीन पर लेटी हुई थी, मुँह में उन्होंने ढाल दिया, उससे कलेजा तक मेरा जल गया और साथ-ही-साथ ग़ुस्से से मेरा सारा शरीर थर-थर काँपने लगा उसके बाद ही शायद फिट आ गया।"

थोड़ी देर तक हम दोनों ही चुप बैठे रहे। फिर मैंने कहा—"भाभी, कुछ दिनों के लिए तुम प्रसादपुर हो आओ।"

"चलो भाई चलें। बड़ा कुसाइत में इस घर में आयी थी। चलो वह यात्रा बदल आवें। भादों महीने के ये कई दिन कट जाने दो, फिर एक अच्छा दिन देखकर, चलो तुम्हारे साथ चलूँ।"

भाभी को लेकर प्रसादपुर जाने की बात मैंने उसी दिन बिनू दादा से कही। पहले तो बिनू दादा राजी न हुए, पर भाभी के और मेरे बहुत आग्रह करने पर राजी हो गये, लेकिन अपने लिए बोले—"मैं तो काशी छोड़कर पादमेकं न गच्छामि।"

जो हो, आश्विन कृष्ण द्वितीया को हमलोगों के जाने का दिन नियत हुआ और नियत दिन पर बिनू दादा के पैरों की धूल लेकर भाभी मेरे साथ गाड़ी पर आ बैठीं।

[२१]

सावन के अन्त में रामप्रसादपुर की जो मूर्ति मैं देख गया, आश्विन में लौटकर मैंने वह मूर्ति न देखी। इन कई दिनों के अन्दर ही उसका रूप बिल्कुल बदल गया था। अब आसमान में काले-काले बादल नहीं घिरे हुए थे—आसमान अब साफ़ था और सूर्य-किरणों से उद्भासित होकर प्रफुल्ल और हास्यमय दिखता था। शरत्काल की शुभ्र हास्यच्छटा चारों ओर फैल गयी थी। काश-शेफाली-कुमुद-कल्हार को विकसित होने का निमन्त्रण देकर कदम्ब-केतकी-चम्पक ने अब आत्मगोपन कर लिया था। शिलाई के अंगों में जल यौवन की तरह छलकता फिरता था। जल-सम्पत्ति से गर्वित हो हर-हर करके शिलाई बहती जा रही थी। उस पार के धान पककर सुनहला रङ्ग धारण किये हुए थे। रास्ते मैदान के पानी-भरे गढ़े सूख गये थे। गाड़ी के चक्के और पथिकों के पैर का दाग़ अपने हृदय में छिपाकर रास्ते का कीचड़ अब कठोर हो गया था। वर्षा का स्नान समाप्त करके प्रसादपुर के वृक्ष-लता, कानन-प्रान्तर एक शुद्ध श्यामल रूप अंगों में उद्भासित करके अपरूप वेश में सज्जित हो गये थे।

यहाँ आने के कई दिनों बाद, एक दिन वसन्त का सौन्दर्य देखते-देखते, शिलाई के किनारे वाली पगडण्डी से मैं चला जा रहा
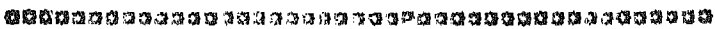
था। तीसरे पहर का वक्त था। उसपार के झाऊ-वन के अन्तराल में सूर्य अस्ताचल की ओर जाने की तैयारी कर रहे थे। नदी-तीर का यह रास्ता जहाँ स्टेशन के रास्ते-वाले बाँध से आकर मिल गया है और जहाँ से पूरब के मैदान से होकर और एक रास्ता सून्दरदीघी के जलेश्वर के मन्दिर की ओर चला गया है, मैं वहीं आकर खड़ा हुआ। वहाँ एक बड़ का पेड़ था। उसीके नीचे बैठकर सामने जहाँतक दृष्टि जाती थी, मैं विस्मृत होकर देखने लगा।

उस दिन भाभी और सन्ध्या का कोई व्रत था वे जलेश्वर के मन्दिर में जल चढ़ाने गयी हुई थीं।

अभी हमलोगों को काशी से आये पूरा एक महीना भी नहीं हुआ था, लेकिन इसी बीचमें भाभीकी तन्दुरुस्तीमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया था। यहाँ आने के बाद से उन्हें एक दिन भी कलेजे के दर्द की शिकायत न हुई, हालाँ कि उनके शरीर पर अनियम, अत्याचार और परिश्रम खूब होता था। यहाँ आने के बाद से भाभी बहुधा सन्ध्या को घर के काम-काज न करने देतीं। सबेरे बिछौना छोड़ने के बाद फूल चुनने से लेकर घर का काम-धाम करने के बाद दो-तीन घण्टे पूजा करके भोजन करते-करते उन्हें शाम हो जाती। इसके अलावे बीच-बीच में किसी-न-किसी बहाने उपवास भी चलता रहता—और इसमें उन्हें कितना उत्साह कैसी गम्भीर तृप्ति, कैसा असीम उल्लास था! सन्ध्या कभी उपवास न कर पाती, लेकिन भाभी ने थोड़े ही दिनों में उसे अपना शिष्य बना लिया।

इस बार कार्तिक के महीने में पूजा पड़ी थी। महामाया के

आगमन में थोड़े ही दिन बाक़ी थे। प्रकृति के चारों ओर आकाश बातास में, जल-स्थल में, कानन-प्रान्तर में, वृक्ष-लता में नर-नारी के हृदय हृदय में महामाया के आगमन का आभास हो रहा था।

आज महालया अमावस्या है। सबेरे ही भाभी ने मुझ से दो पाल्कियों की व्यवस्था कर देने को कहा—"आज हमलोगों का व्रत है, जलेश्वर को जल चढ़ाने जाना है।" मैं ने कहा—"यह तुमने क्या शुरू कर रक्खा है भाभी? इस तरह उपवास और पूजा-पाठ कर-कर के अन्त में तुम क्या एक—"

"विपत्ति मोल ले लूँगी कहते हो? कुछ डर नहीं बाबू! काशी में उनके पैरों की छाया छोड़कर मैं क्या कोई विपत्ति मोल ले सकती हूँ? और व्रत-उपवास या पूजा-पाठ करने से क्या कभी कुछ गड़बड़ी हो सकती है? हम हिन्दू के घर की लड़कियाँ, बहुएँ हैं बाबू, इसका हमें अभ्यास है। इस से हमारे शरीर को हानि पहुँचती है या लाभ होता है, यह तो देख ही रहे हो। मैं तो अब फिर पहले की तरह हो गयी हूँ। देखो न, शरीर में किस तरह मांस भर रहा है।" इसके बाद भला मैं और क्या कहता? दो पाल्कियों का इन्तज़ाम कर दिया। दो पहर को मेरे खा-पी लेने पर दरवान और नौकरानी को लेकर दोनों जलेश्वर के मन्दिर की ओर चली गयीं।

जिस समय वे गयीं, उससे अबतक उन्हें लौट आना चाहिए था। यद्यपि उनके साथ आदमी था, फिर भी लौटने में इतनी देर क्यों हो रही है, उस बड़ के पेड़ के नीचे बैठा-बैठा मैं यही सोच रहा था कि दूर पर एक गाड़ी आती हुई दीख पड़ी। नजदीक आने

पर देखा, वह हमारी ही पाल्की थी। लेकिन यह एक ही क्यों ? दूसरी क्या हुई ? सोचा, वह शायद पीछे रह गयी हो और दरवान और नौकरानी उसी के साथ आ रहे हों ! इस पाल्की में सन्ध्या नहीं हो सकती, क्योंकि निर्जन मैदान में वह अकेली पाल्की को आगे नहीं बढ़ने दे सकती। यह निश्चय ही भाभी की पाल्की है। गाँव के जाने-सुने कहार होने पर भी भाभी को इस तरह अकेली नहीं चल देना चाहिये, पाल्की के पास आने पर मैं यही कहने जा रहा था कि देखा, पाल्की के दोनों पल्ले खुले हैं और उसमें आड़े सोकर बिनू दादा गुनगुना रहे हैं। मैं चौंक कर कुछ कहूँ-कहूँ उसके पहले ही कहारों को रोककर बिनू दादा पाल्की से उतर पड़े और बोले—"पहले चिट्ठी लिखे बिना चले आने का यह दण्ड है पञ्चू, स्टेशन पर उतरकर बाँधके रास्ते में यहाँ तक चला आया था, पर मुड़ने के बदले बराबर सीधा चला गया !"

मैं ने कहा—"बिना कोई खबर-दिये सहसा इस तरह—। ढाई बजे की गाड़ी से आये हो शायद !"

"हाँ जी ! बड़ी परेशानी हुई। इधर कोई ताल नामका गाँव है?"

"हाँ, सुन्दर ताल।"

"हाँ, उसी सुन्दर ताल में मैं जा पहुँचा। दो पहर का वक्त मैदान में एक भी आदमी नहीं था, जिससे कुछ पूछता। यहाँ से शिव का मन्दिर क्या कुछ कम दूर है ? शायद—"

"पक्का तीन माइल है बिनू दादा ! उनलोगों से वहाँ मुलाक़ात होगयी तो ?"

"हुई नहीं तो पाल्की कहाँ पायी मैंने ?"

बात करते-करते हम दोनों आगे बढ़ने लगे। खाली पाल्की लेकर कहार फिर भाभी और सन्ध्या को ले आने चले गये।

घर आकर हाथ-मुँह धोकर और कुछ जलपान करके चाय पीते-पीते बिनू दादा ने कहा—"देखो पञ्जू, मैंने कहा तुम आने के लिये इतना कह-सुन आये हो। न आऊँगा, तो बुरा मानोगे, इसीसे चला आया।...... उसको तो देखा, तन्दुरुस्त हो गयी है। तुम्हारा प्रसादपुर तो उसके लिये शिमले का पहाड़ हो गया है। काशी जैसी जगह में रहकर न अच्छी हुई और यहाँ इन कई दिनों में ही......। लेकिन, पद्मा तो बहुत तन्दुरुस्त नहीं हुई।"

"यहाँ आने के बाद से भाभी बहुत खुश है बिनू दादा !"

"यह तो देख ही रहा हूँ। दो कोस जमीन तै करके शिवजी के माथे पर जल ढालना, स्कूल में मास्टरी करना—"

"मास्टरी करना ?"

"हाँ भई, जाकर देखा क्या कि मन्दिर के चबूतरे पर बहू बैठी हुई है, नहीं तो मैं अभी और आगे बढ़ जाता। बहू तो मुझे देख कर एकाएक चौंक पड़ी। मन-ही-मन सोचा शायद प्रसादपुर यही है। मन्दिर की छाया में जाकर एक ओर खड़ा होते ही दरवान ने आकर कहा—"आप पालकी में बैठकर गाँव चले जाइये, बड़ा माई-जी उस स्कूल में गयी हैं। स्कूल ? स्कूल में गयी हैं ?सामने देखा तो सचमुच ही एक टीन के लम्बे साये में एक झुण्ड लड़कियाँ—"

"हाँ बिनू दादा,उस गाँव के मित्तिर-लोगों ने नया स्कूल खोला है।"
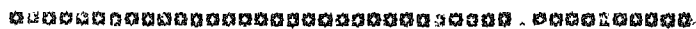
"होगा।...नजदीक जाकर देखा, तुम्हारी भाभी ने एक कुर्सी पर बैठ कर महा-मास्टरी शुरू कर दी है।" कहकर बिनू दादा हो-हो कर के हँस पड़े। बोले—" लड़कियों से सवाल करने पर दो-तीन लड़कियों ने बताया कि धरती के अन्दर ज्यादा गर्मी हो जाने से भूकम्प होता है; बस कुर्सी से उठकर, हाथ-मुँह फैला-फैलाकर तुम्हारी भाभी ने व्याख्यान देना शुरू कर दिया—'नहीं, नहीं,—फिर कभी तुम लोग यह बात न कहना तुम्हारी किताब में चाहे जो लिखा रहे, उसे पढ़भर लेना, उसे मान मत लेना। तुम्हारी दादी-मामी, घर की बड़ी-बूढ़ी जो कहें वही कहना, वही समझना। कहना कि बासुकी जब पृथ्वी का भार सह नहीं सकते तब एक-एक करके फन बदलते हैं, उसी से भूमि-कम्प होता है। सिर्फ काशी महादेव जी के त्रिशूल पर है, इस-लिए वहाँ भूमिकम्प नहीं होता।" कैसे मजे-मजे में हाथ-मुँह फैला-फैलाकर व्याख्यान दे रही थीं कि वाह!"

नीचे आहट सुनकर मैंने समझा कि वे सब आ गयीं। बिनू दादा की ओर देखकर मैंने कहा—"लेकिन इस बार तो महादेव का त्रिशूल भी हिल गया बिनू दादा, तभी तो तुम छटककर यहाँ आ पड़े, नहीं तो स्वप्न में भी—"

दरवाजे के पास पैरों की आहट सुन पड़ी। भाभी ने पास आकर बिनू दादा से कहा—"रात को पूरी खाओगे कि भात? दिनभर तो भात खाने को न मिला होगा!"

"मिला तो नहीं, सुतरां भात ही खाया जायगा, लेकिन

बासुकी के फन में कैसा जोर है पञ्चू, कि इतनी बड़ी पृथ्वी को उन्हों ने माथे पर उठा रक्खा है; और वह फन ही न-जाने कितना बड़ा है! और फिर फन भी एक नहीं, ऐसे-ऐसे एक हज़ार—।" फिर भाभी की ओर देखकर बोले—"अच्छा जी, बासुकी रहते कहाँ हैं?—पाताल में न? लेकिन स्टेशन से घर आते-आते उनके छोटे-बड़े जैसे प्रजा-पुञ्जों का दर्शन हुआ, उस से तो यह मालूम पड़ा कि उनका राज-सिंहासन कहीं आस ही पास होगा!"

"अच्छा, अच्छा, ज्यादा फ़िजूल बकने की जरूरत नहीं। देवर बाबू, कल जरा मुझे सबेरे ही जगा देना, उन सबों को न्यौता दे आयी हूँ।"

"किन को भाभी?"

"मित्तिर बाबू की बहुओं को। तीनों जैसी पढ़ी-लिखी हैं, वैसी ही मिलनसार भी हैं। शिव जी की पूजा कर चुकने के बाद बिना हम लोगों को कुछ खिलाये मानी नहीं।···इन्हीं बहुओं के प्रयत्न से स्कूल खुला है। तीनों ने साथ लेकर हमें स्कूल दिखाया। कल ही स्कूल लगकर पूजा की छुट्टी हो जायगी। थोड़ी देर चुप रहकर भाभी बोलीं—"एक काम कर आयी हूँ!"

"क्या भाभी?"

"स्कूल के लिए एक सौ रुपए देने का वादा कर आयी हूँ। कल ही उन लोगों को रुपये दे दिये जायँ तो अच्छा हो! कल तुम मुझे एकसौ रुपए देदेना, फिर मैं तुम्हें वापस कर दूँगी। क्यों?

"अच्छा।"

इतनी देर में बिनू दादा की नाक बोलने लगी थी। भाभी ने कहा—"रास्ते में न-जाने-कितनी तकलीफ़ हुई हो! चौबीस घण्टा तो गाड़ी में बैठना पड़ा होगा!" कहकर भाभी नीचे चली गयीं। थोड़ी देर बाद बगल के कमरे से बहुत दिनों के बाद भाभी के गले की आवाज़ सुन पड़ी। भाभी गाने लगीं—

सुना तेरा आकुल आह्वान!
निशा-शेष में हुआ इसी से तन्द्रा का अवसान।
चरण-चिन्ह किसके इस पथ में,
दीख रहे विस्मृति के रथ में,
किसके तन-सौरभ से सुरभित अलस जगत् के प्रान?
इस-उस ओर आज किसका रव,
(विकसित, स्मित, उल्लसित, मृदुल, नव)
बुला रहा है मुझ को, गाकर 'उस जग' का मृदु गान?
यह किस की है प्रीति मनोहर,
किसका गीत टूटता, जर्जर,
जाऊँ स्वामी, आज हुआ इस तन्द्रा का अवसान।
सुना जब से आकुल आह्वान॥

वहीं लेटकर भाभी का गीत सुनते-सुनते मुझे नींद आगयी। सुमिष्ट कण्ठ के उच्चतम पर्दे से तरङ्गायित होता हुआ स्वर, गीत की समाप्ति के साथ जब क्रम से धीमा होता हुआ शून्य में मिल जाने लगा, तो सचमुच ही ऐसा मालूम हुआ कि किसी सुदूर

स्वप्न लोक के किसी अग्रदूत के आह्वान से गायिका व्याकुल होकर, जाऊँ-जाऊँ कहती हुई, उसके पीछे दौड़ी जा रही है। निशीथ की उस नीरवता में बहुत देर तक तन्द्राच्छन्न अवस्था में पड़ा मैं देखने लगा कि कोई सूक्ष्म-शरीरधारी अपने पङ्ख फैलाये अति सुदूरान्तर के सीमाहीन शून्य पथ में उड़ता हुआ गा रहा है—

"जाऊँ स्वामी, आज हुआ इस तन्द्रा का अवसान।"

---

[२२]

भाभी का दूसरा दिन बड़े आनन्द और उत्साह में बीता, लेकिन इस उत्साह का परिणाम अच्छा न हुआ। उसी रात को भाभी को ज्वर आ गया और सारी रात बड़ी बेचैनी रही। ज्वर लगातार बढ़ता गया और दो-तीन दिन में उनकी तबियत बहुत खराब हो गयी।

एक खुराक दवाई पिलाकर मैंने पूछा—"आज क्या सिर में बहुत दर्द हो रहा है?" अपनी लाल-लाल आँखों को मेरी ओर फिराकर, दोनों हाथों से अपने सिर को खूब जोर से दबाते हुए भाभी ने कहा—"सिर का दर्द? ओः!—कौन है?—देवर बाबू! इस समय दिन है कि रात, बता सकते हो?" पास ही बिनू दादा बैठे हुए थे। उन्हों ने पूछा—"सिर में बड़ा दर्द है?"

"सिर में सिर कहाँ है? सिर ही नहीं है। सिर नहीं—सिर नहीं—सिर नहीं—सिर नहीं—सिर मर गया है—मर गया है,

जानते नहीं ? वही, वही, ओः ! देखो देवर बाबू, एक सियार, नहीं-नहीं, कठफोड़वा—दौड़ो दौड़ो ! ओः ! कितना तेज़ दौड़ता है दादा !" कहकर भाभी आँख मूँदे हुए थोड़ी देर तक अवसन्न पड़ी रहीं। फिर आँख मूँद-ही-मूँदे बड़े मधुर स्वर में कहने लगी-" क्या पूछते थे ? हाँ, सिर में आज बहुत दर्द है।"

"और कहीं दर्द होता है भाभी ?"

"कुछ समझ में नहीं आता, बहुत जगह होता है।—यः गिर पड़ा ! पकड़ो पकड़ो—जाः।" कहकर गुनगुनाने लगीं—"जाऊँ स्वामी, आज हुआ—"

कई घण्टे बाद डाक्टर ने आकर कहा—"बुख़ार रेमिशन हो गया है ! तीन दिन के बाद बुख़ार कम हो रहा है इसीलिए ज़रा restless हो गयी हैं—ज्यादा बकवाद न करने दीजिएगा। अगर नींद आ जाय तो बड़ा अच्छा हो, नींद की उम्मीद कम है।"

डाक्टर के जाने पर साथ-ही-साथ बिनू दादा भी उठ गये। मैंने भाभी से कहा—"भाभी, तुम सोओ। मैं भी चलूँ !"

"मैं भी चलूँ !"

"कहाँ भाभी ?"

"वह जो बुला रहा है !"

"चुपचाप तुम सो जाओ।"

"सोती तो थी, लेकिन नींद तो टूट गयी भाई, (गाते हुए) "निशा-शेष में हुआ इसी से तन्द्रा का अवसान।" ओः देवर बाबू, भाई, देखो तो मेरा माथा है कि नहीं, कोई काट कर लिये

तो नहीं जा रहा ?" दो-चार मिनट बाद भाभी करवट बदल कर सो गयीं। उसी हालत में आँख मुँदे हुए उन्होंने धीरे-धीरे कहा-- "सचमुच बाबू, मुझे चारों ओर से कोई बुला रहा है। पास आ कर बुलाते-बुलाते फिर दूर चला जाता है! कैसे, जानते हो? जैसे जानकी के दुःख से व्याकुल होकर माँ वसुन्धरा उनको पुकार रही थी--आओ, आओ, ठीक उसी तरह। कहकर भाभी फिर गुनगुनाने लगी--"जाऊँ स्वामी, आज हुआ इस तन्द्रा का अवसान।"

मैंने देखा कि कोई पास रहेगा तो भाभी बराबर इसी तरह बकती रहेंगी, इसीसे मैं उठकर बाहर चला आया।

डाक्टर का अनुमान सच ही निकला। उसी रात को भाभी का ज्वर रेमिशन हो गया। उसके बाद दो दिनों तक उन्हें ज्वर नहीं आया। उसके अगले दिन सप्तमी की पूजा थी। दूसरे दिन उनकी देह थोड़ी गर्म जरूर हो गयी, लेकिन डाक्टर ने कहा कि यह कुछ नहीं है।

उस गाँव में कई सालों से लगातार दुर्गापूजा होती आ रही थी। इस पूजा को मैंने ही प्रारम्भ किया था और रुपयों का खर्च और परिश्रम भी मुझे ही करना पड़ता था। इस बार भी पूजा शुरू हो गयी थी, पर भाभी की बीमारी के कारण और सालों की तरह मैं उसमें योग नहीं दे सकता था। कई दिनों के बाद जरा फुर्सत पाकर मैं ठाकुर-तल्ले में आया। महामाया का दर्शन करके और सारी दुपहर वहीं बिताकर जब शाम को मैं घर आया तो भाभी ने पूछा--"आज महाष्टमी है बाबू?" उनके सिर के पास कुर्सी खींचकर बैठते हुए मैंने कहा--"हाँ भाभी।"

"मैं आरती देखने जाऊँगी ।"

"कहाँ ?"

"ठाकुर-तल्ले ।"

"पागल हुई हो भाभी, ऐसी देह लेकर ठाकुर-तल्ले जाओगी?"

"हाँ बाबू, जाऊँगी। माँ इतनी पास आयी हैं, फिर भी एक बार दर्शन न करूँ ? आँख मूँद लूँ ? आँख मूँदने पर तो वे दीख नहीं पड़तीं। भाई, मैं एक बार जाऊँगी ।"

बिनू दादा ने आकर कहा—"हाँ, ठाकुर-तल्ले में जाकर उधर ही से जरा शिवजी को जल चढ़ाती आना और फिर मित्तिर की बहुओं को न्यौता दे आना। दिनभर जुटकर खिलाने-पिलाने का आयोजन करना। फिर——"

"अच्छा जी अच्छा; मैं बोली, बुरा किया; अब न बोलूँगी।"

"नहीं नहीं, यह कैसे होगा ? ठाकुर-तल्ले तो आज जाना ही चाहिए। ठैरो, मैं एक पालकी ले आऊँ।" कहकर बिनू दादा कमरे से बाहर निकल गये। मैं भी बाहर आकर आराम कुर्सी पर बैठ गया। वहीं बैठे-बैठे मैंने सुना, सन्ध्या कह रही थी—"बड़की, तुमने भी हद कर दी ! ऐसी हालत है और तुम ठाकुर-तल्ला जाओगी ?"

खिड़की से मैंने देखा, भाभी करवट बदल कर सोयीं। सोये-ही-सोये बोलीं—"अरे न जाऊँगी, न जाऊँगी, न जाऊँगी। बाप-रे-बाप, एक बार जाने का नाम लिया कि सब लोग खाँव-खाँव करके चढ़ बैठे !"

अष्टमी बीत गयी, नवमी भी बीती। महामाया का वार्षिकोत्सव

समाप्त हो गया। छोटे से गाँव में लगातार कई दिनों तक आनन्द और उल्लास की जो धारा बह चली थी, नवमी की रात के साथ-ही-साथ उसका भी अन्त हो गया। ठाकुर-तल्ले के ढोलचियों के ढोल-मँजीरे सबेरे से ही विजया की विदाई का बाजा बजा रहे थे।

मैं इस ओर वाले कमरे में बैठा कोई अँग्रेजी उपन्यास पढ़ रहा था। आज भाभी को पथ्य दिया जायगा। सामने ज़मीन पर बैठकर सन्ध्या भाभी के लिये परवल छीलते हुए न-जाने कितनी ऊटपटाँग बातें कह-कह कर मुझे उबा रही थीं। आखिर जब मैं चुप हो गया तो थाली-परवल समेट कर वह नीचे उतर गयी। थोड़ी देर में किसी के पैरों की आहट सुनकर मैंने सिर उठाया—सामने पाट की साड़ी पहने भाभी खड़ी थीं। विस्मित होकर मैंने पूछा —"*यह क्या भाभी?*"

"जाऊँगी।"

"कहाँ?"

"ठाकुर-तल्ला एकबार जाना ही पड़ेगा। आज मैं तुमलोगों की किसी की बात न सुनूँगी।"

"आठ-नौ दिन के बाद तुम्हें पथ्य मिलेगा, आज भला तुम ठाकुर-तल्ला जा सकती हो? और भाभी, पूजा भी तो खत्म हो गयी, आज तो विसर्जन है।"

"इसी से तो आज मुझे वहाँ जाना ही पड़ेगा। आज अगर तुमलोग मुझे न जाने दोगे, तो फिर मेरी तबियत खराब हो जायगी। सारी रात सपना देखती रही हूँ कि माँ मुझे बुला रही हैं।"

"अच्छा भाभी, माँ का दर्शन तुम्हें कराऊँगा। विसर्जन के लिए जाते समय माँ की सवारी इसी ओर से जाय, ऐसा इन्तजाम कर दूँगा। इतना दुर्बल शरीर लेकर तुम क्या वहाँ तक जा सकोगी?"

असम्भव धीर गले से भाभी ने कहा—"माँ को देखने के लिए उन्हें अपने दरवाजे पर दौड़ाऊँगी ? ऐसी बात न कहो बाबू, पाप लगता है। और, शरीर तो तुम्हारा दुर्बल नहीं है ? तुम्हारी अपेक्षा मेरे शरीर और पैरों में अधिक बल है। मैं इसी वक्त एक कोस, दो कोस, चार कोस चल सकती हूँ ! तुम मेरे साथ चल सकोगे ? उठो, भाई मेरे !" देखा, भाभी आज मानने वाली नहीं हैं। सचमुच आज भाभी ने किसी की न सुनी। बिनू दादा ने आकर कहा, सन्ध्या ने समझाया, पर भाभी ने किसी की बात तो नहीं ही मानी। उल्टे उनकी आँखों में आँसू भर आये। अन्त में एक पाल्की पर उन्हें ठाकुर-तल्ला ले आया गया। साथ में मैं और बिनू दादा आये।

ठाकुर-तल्ले में गाँव के छोटे-छोटे लड़के-लड़कियों की भीड़ लगी हुई थी। प्रतिमा के सामने खड़ी होने पर भाभी के रोग-पाण्डुर मुँह पर एक अपूर्व प्रफुल्लता और गंभीर तृप्ति का भाव विकसित हो गया। दो-तीन मिनट तक प्रतिमा की ओर टकटकी लगाकर देखते रहने के बाद भाभी ने कहा—"जरा देर यहीं बैठती हूँ। एकाएक मेरे दिल में न-जाने कैसा होने लगा है।"

बिनू दादा ने कहा—"अब और ठहरने की जरूरत नहीं। प्रणाम कर के घर चलो।"

दोनों हाथों से कलेजा दबाकर भाभी वहीं जमीन पर बैठ

गयीं। क्षणभर में उनके रक्तहीन चेहरे पर एक गम्भीर विषाद की रेखा प्रतिफलित हो उठी। साफ़ ही मालूम पड़ा कि भाभी अन्दर-ही-अन्दर कोई तीव्र पीड़ा दबाए हुए हैं। भीतर-ही-भीतर उस पीड़ा को दबाती हुई, गलेमें आँचल लपेटकर भाभी ने प्रतिमा को प्रणाम करने के लिये जमीन पर सिर झुकाया ही था कि उनका सिर बिनू दादा के पैरों में लोट गया, साथ ही बिनू दादा 'क्या हुआ' कहकर चिल्ला पड़े; लेकिन जो हुआ वह मैंने भी समझा और बिनू दादा ने भी। कुछ देख भी न सका, सोच भी न सका— न जाने कहाँ से क्या होगया! क्या करूँ, क्या कहूँ; मेरी समझ में यह कुछ भी न आया और मैं किंकर्तव्य-मूढ़ की तरह चुपचाप जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह गया।

बिनू दादा की चिल्लाहट सुनकर उसी समय बहुत से लोग प्रतिमा के सामने दौड़ आये। एक आदमी दौड़कर डाक्टर को बुलाने गया और दूसरा भाभी को पंखा झलने लगा। मैं वज्राहत की तरह खड़ा-का-खड़ा रह गया और सोचने लगा कि ये लोग कर क्या रहे हैं? किसके लिए डाक्टर बुलाया जा रहा है और किस को पङ्खा झला जा रहा है? लेकिन, मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। न-जाने किसने अपने हाथों से मेरा मुँह बन्द कर दिया, मन्त्र-शक्ति से मुझे पत्थर बना दिया।

डाक्टर हाँफते-हाँफते दौड़ आये। भाभी को देखते ही बोले "मुझे अब किस लिये बुलाया है पङ्कू बाबू?" तो मैंने मन-ही-मन कहा—मैंने तुम्हें नहीं बुलाया डाक्टर, मैंने नहीं बुलाया।

एकबार आँख उठाकर मैंने प्रतिमा की ओर देखा। आज विदाई के दिन उनके ओठों पर हँसी जैसे फिसली पड़ रही थी। इस तरह की हँसी मैंने इन कई दिनों में कभी माँ के मुँह पर नहीं देखी थी। माँ, जगत् में अतुलनीय अपनी इस कन्यारत्न को अपने साथ ले जाने के लिये ही तुम्हारा इतना छल था, इतना आयोजन था?—इतना तुम्हें आनन्द था, इतनी हँसी?

बिनू दादा वहीं बैठ गये थे। उनके पैरों पर अभीतक भाभी के रूखे केश बिखरे हुए थे। मैं भी अधिक खड़ा न रह सका, वहीं धूल पर बैठ गया।

डाक्टर ने कहा—हार्टफ़ेल।

गाँव के लोगों ने कहा—पुण्यवती, सती-लक्ष्मी।

औरतों ने कानाफूसी की—मनुष्य नहीं, स्वर्ग की शापभ्रष्ट देवी थी!

सिर्फ़ बिनू दादा और सन्ध्या के मुँह से आवाज़ न निकली। सन्ध्या तो एकबार ख़ूब चिल्लाकर रो भी पड़ी थी, पर बिनू दादा के मुँह से एक आवाज़ भी न निकली। आँखें भी उनकी एकबार न भर आयी।

× × × ×

शिलाई-तीर का श्मशान। छोटा-सा गाँव था, उसका श्मशान भी वैसा ही छोटा-सा था। इस श्मशान में छठे-छमाहे कभी चिता जलती थी, क्योंकि गाँव में प्रायः सभी दरिद्र थे। जीते रहने पर जिन्हें रोग की दवा करने की सामर्थ्य नहीं होती, पथ्य के लिए

पैसे नहीं मिलते, मरने पर उनके जलाने की व्यवस्था कैसे हो ? इसीसे मर जाने के बाद गाँव के अधिकांश मृत देह गाँव के बाहर शिलाई-तीर पर फेंक दिये जाते हैं और वहाँ स्यार और कुत्तों के द्वारा उनकी गति हो जाती है।

तीसरा पहर बीत रहा था। छोटे-से श्मशान में भाभी की चिता धाँय-धाँय जल रही थी। पास ही एक वृक्ष के नीचे बैठकर श्मशान आए हुए गाँव के लोग आपस में बातचीत कर रहे थे। बिनू दादा नहीं आये थे। मुँह में आग देकर वे कहीं चले गये थे।

सामने प्रज्वलित चिताग्नि भाभी के शरीर को भस्म कर रही थी। मैं चिता से थोड़ी दूर घास पर बैठकर न-जाने कितनी बातें सोचने लगा। सहसा एक तीव्र-गन्ध और शब्द से चौंक कर मैंने देखा बिनू दादा मेरे पीछे आकर मुझसे सटकर बैठे हुए हैं। लौटकर उनकी ओर देखते ही हँसते-हँसते उन्होंने कहा—"क्यों रे, अभी तक धाँय-धाँय जल रही है ? इतनी देर तक जलने का उसमें था ही क्या ? मैंने देखा, बिनू दादा के शरीर से टप्-टप् पसीना चू रहा है, आँखें ख़ूब लाल हैं, धोती अस्तव्यस्त रूप से कमर में लिपटी हुई है। उनकी ओर देखकर मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि वे झटपट उठ खड़े हुए। बोले—"जलाओ, जलाओ, —जितना जला सको, जलाओ ! थोड़ी शराब पिओगे ? पिओ तो बदन में ताक़त आ जायगी।" कहते-कहते बिनू दादा तेजी से गाँव की ओर चले गये।

उस समय भी शाम नहीं हुई थी, लेकिन होने में देर भी नहीं थी। सूर्य उस समय लाल होकर पश्चिम आकाश में ढल पड़े थे। ऐसा लगा, मानों स्वर्ग में भी श्मशान की चिता जल उठी है। सामने पृथ्वी की चिता—और ऊपर आसमान की! देखते-ही-देखते दोनों चिताएँ एक साथ बुझ गयीं। इसके बाद मैं न-जाने कितनी देर तक अन्यमनस्क बैठा रहा। साथियों के पुकारने पर जब होश आया तो देखा कि चारों ओर अँधेरा फैल गया है और उसी अन्धकार में श्मशान के वृक्ष अपनी जुगनू-रूपी आँखों से मेरी ओर टक-टक ताक रहे हैं। उस समय भी उस बुझी हुई चिता की भस्म-राशि में से एक बार चिनगारियाँ चटक उठती थीं। कुछ देर बाद ही जब गाँव से विसर्जन के बाजों का शब्द आकाश-पाताल में भर गया तो मुझे मालूम पड़ा कि गाँव के घाट पर प्रतिमा का विसर्जन हो गया। उसी समय अन्धकारा-च्छन्न श्मशान की गम्भीर नीरवता भेदती हुई, सब लोगों की सम्मिलित आवाज़ चारों ओर गूँज उठी—"रामनाम सत्य है!"

---

[२३]

घर लौटकर मैंने सन्ध्या से कहा—"बिनू दादा कहाँ हैं ?" सन्ध्या ने कहा—"मैं नहीं जानती।" घर में ऊपर-नीचे सब जगह ढूँढ़ डाला, पर कहीं बिनू दादा का पता न चला। इस रात को या तो वे कहीं घूमते फिर रहे होंगे या कहीं मैदान में, या किसी पेड़ के नीचे या नदी-तीर पर अकेले चुपचाप बैठे होंगे ! यही सोचते-सोचते मैं अपने कमरे में आकर लेट गया। ज्यादा देर तक लेटा भी न रह सका, मन बिनू दादा के लिए बहुत चञ्चल हो उठा। नीचे उतरकर दरबान को ठाकुरतल्ला भेज दिया—कहीं जाकर चुपचाप न बैठे हों। लेकिन दरबान ने लौटकर खबर दी कि बिनू दादा न तो ठाकुरतल्ले में ही हैं और न उसके आस-पास ही कहीं। सारी रात निद्राहीन दोनों आँखों को बन्द किये चुपचाप बिछौने पर पड़ा रहा।

बिनू दादा दूसरे दिन भी न आये और न उनकी कोई खबर ही मिली। सबेरे ही उन्हें ढूँढ़ने के लिए मैंने चारों ओर आदमी भेज दीजिये, दोपहर तक उन सबों ने लौट आकर खबर दी कि कहीं उनका पता न चला। तीसरे पहर मैं जनशून्य बाँध के ऊपर अकेला बैठा था, रास्ते से गाँव का एक मुसलमान बाजार से लौट कर आ रहा था। उसके मुँह से सुना, बरईघाटी के पास, एक आदमी

नदी में डूबकर मर गया है। पूछने पर उसने बतलाया—"कल रात को ही शायद वह डूबा है। इस समय भी उसका शरीर फूला नहीं है और न उससे दुर्गन्ध ही आती है। बोरोहाटी के नदी के मोड़ पर वह अटका हुआ था, चौकीदार ने उसे डोंगी पर निकाल कर रख लिया है।" थोड़ी देरतक चुप रहकर उसने कहा—"इधर का आदमी नहीं था बाबू, कोई उसको पहचानता नहीं। बाबू की तरह उसका चेहरा है, अच्छा मोटा-ताजा जवान—"

"ख़ूब गोरा है?"

"हाँ।"

"माथे पर बड़े-बड़े घुँघराले बाल हैं?"

"हाँ।"

मैं साँस रोककर दौड़ा। बरुईहाटी लगभग दो कोस था। मैं नदी के किनारे-किनारे दौड़ने लगा, लेकिन थोड़ी दूर जाकर हाँफ गया—और न दौड़ सका। उस समय डेढ़ मील से ज़्यादा न चला होऊँगा, बाक़ी ढाई मील रास्ता भी दौड़कर ही तय करने की इच्छा हुई, लेकिन दौड़ते न बना—हाँफते-हाँफते मैं आगे बढ़ा। प्रायः स्टेशन के पास तक पहुँचा होऊँगा कि पेड़ों की आड़ से गाने की आवाज सुन पड़ी—"खोज खोज जो उसको पाऊँ," चौंककर देखा, देशी शराब की एक बोतल हाथ में लिए हुए, बाँध के एक वृक्ष के सहारे बिनू दादा बैठे हुए हैं।

बँधे हुए गले से धमकाते हुए बिनू दादा ने कहा—"डैम-स्टुपिड, ब्रूट,—खोज-खोज जो उसको पाऊँ!"

बिनू दादा के पास जाकर मैंने कहा —"कल से तुम—"

बोतल से थोड़ी-सी शराब पीकर बिनू दादा ने कहा—"Dont speak silly words, पञ्चू ! 'कल से तुम' इसके क्या माने ? कल माने जो बीत गया वह, कि आवेगा वह ? कल Means—Not to-day, yesterday, day before yesterday, month before yester-month, year before yester-year and twelve months make one year, समझे ? Thirty days have September, April, June and November, February has twenty-eight alone, and all the rest have twenty one.

मैंने देखा, इस समय बिनू दादा से कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है। उनका हाथ पकड़कर उठाने की कोशिश करते हुए मैंने कहा —"उठो, घर चलो।" लेकिन मैं उन्हें हिला भी नहीं सका। मैं बिनू दादा को अपनी ओर जितना खींचूँ, बिनू दादा उतना मुझे अपनी ओर खींच लें। थोड़ी देर खींचा-तानी के बाद मैं जब बनावटी गुस्सा दिखाकर उन्हें धमकाता हुआ, उठकर खड़ा हो गया तो ढलमलाते हुए बिनू दादा ने उठकर कहा—"नाराज़ होते हो ? अच्छा, चलो, लेकिन—क्या लेकिन, बताओ तो ? अर्थात् खोज-खोज उसको जो पाऊँ, समझे पञ्चू ?"

चलते-चलते बिनू दादा एक जगह थमककर खड़े हो गये। धीरे-धीरे बोले—"अब वह नहीं है, मर गयी है, क्यों ? तुम्हारी भाभी ! इसीसे तो—खोज-खोज जो उसको पाऊँ !"

किसी तरह बिनू दादा को घर ले आया। घर पहुँचते-पहुँचते

शाम हो गयी। शाम के बाद उन्हें स्नान कराकर कुछ भोजन आदि कराया।

दूसरे दिन बिनू दादा ने कहा—"अब यहाँ न रहूँगा पञ्चू ! मैं आज काशी जाऊँगा, तुम रोकना मत।"

किसी तरह बिनू दादा को कई रोज रोक रक्खा। ये कई दिन उनके शराब के बल पर बीते। उन्हें कितना समझाया-बुझाया, डराया-धमकाया, गुस्सा किया, लेकिन उनका शराब पीना किसी तरह न छुड़ा सका। बिनू दादा सिर्फ एक ही बात कहते—"अरे, उसको भूला रहने दे—भूला रहने। इतनी शराब शौक से नहीं पीता—यह उसको भुलाए रहने की दवा है।"

कई दिन इसी तरह बीत गये। भाभी का श्राद्ध हो जाने पर मैंने बिनू दादा से कहा—"अब काशी जाकर क्या होगा बिनू दादा ! न हो काशी का घर बेच दो और चलो कालीघाट में ही चलकर हमलोग रहें।

बिनू दादा ने कहा—"यह नहीं हो सकता, किसी तरह नहीं हो सकता, काशी छोड़कर मैं और कहीं न रह सकूँगा।" बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब बिनू दादा न माने तो एक दिन उनको और पद्मा को लेकर मैं काशी के लिए रवाना हुआ। काशी में प्रायः पन्द्रह दिनों तक रहकर मैं प्रसादपुर वापस आगया। आते समय बहुत तरह से बिनू दादा से कह आया कि बीच-बीच में चिट्ठी लिखते रहना, लेकिन प्रसादपुर लौटने के बाद फिर उनकी खबर न मिली।

जब लगातार पत्र-पर-पत्र लिखते रहने पर भी तीन महीने तक बिनू दादा की कोई खबर न मिली तो मैं सन्ध्या को साथ लेकर कालीघाट से बनारस चला आया। आकर जो देखा, उससे मेरा मन दुश्चिन्ता से भर उठा। इन तीन ही महीनों में उनका चेहरा ऐसा बदसूरत हो गया था कि पहचाने न जाते थे। घर का काम-काज सब नौकरों पर छोड़ दिया था, अपने चौबीस घण्टा शराब के नशे में रहते थे। इस काम में उनके और दो-एक साथी आ जुटे थे।

सन्ध्या ने कहा—"किसी तरह भाईजी को समझा-बुझाकर यहाँ से ले चलो, नहीं तो वे जी न सकेंगे।" लेकिन, भाईजी ने किसी की कोई बात न सुनी। अपनी ही कहते रहे—मैं काशी छोड़कर कहीं न जाऊँगा।"

---

[२४]

पाँच वर्ष बीत गये हैं। इन पाँच वर्षों में पहले दो वर्ष तक तो मैं काशी जाकर बिनू दादा और पद्मा आदि का सम्वाद ले आया करता था, लेकिन तीसरे साल जाकर देखा तो बिनू दादा का कहीं पता न था। घर को बेचकर वे न जाने कहाँ चले गये थे। नये मकान मालिक से पूछने पर मालूम हुआ कि मकान बेचने के बाद कुछ दिनों तक वे काशी में ही थे, फिर न जाने कहाँ चले गये। मैंने उनका बहुत पता लगाया, पर कुछ लाभ न हुआ;

फलतः मैं हताश होकर लौट आया। उसके बाद आज तीन साल में बिनू दादा को ढूँढ़ने के लिए मैंने कोई जगह बाक़ी नहीं रखी। काशी, चुनार, इलाहाबाद, मथुरा, वृन्दावन से लेकर लखनऊ, कानपुर, दिल्ली, आगरा, हरिद्वार,—इधर आरा, पटना, छपरा, मुँगेर, भागलपुर आदि सब छोटे-बड़े शहरों को मैंने छान डाला, लेकिन कहीं बिनू दादा का पता न चला। एक दिन बिछावन पर पड़े-पड़े बिनू दादा की बात ही सोच रहा था कि इतना ढूँढता हूँ, बिनू दादा का पता क्यों नहीं लगता ? वे जीते तो हैं ? जीते होते तो इन तीन सालों में कहीं-न-कहीं पता मिला ही होता। लेकिन वे जीते नहीं हैं, इस बात का निश्चय कैसे हो ? इन तीन वर्षों में एक दिन के लिए भी मन में यह बात नहीं उठी; लेकिन यदि बिनू दादा सचमुच ही जीवित न हों तो पद्मा——इसके आगे न सोच सका। मेरा सारा शरीर भय और चिन्ता से सिहर उठा। झटपट जाकर मैंने यह बात सन्ध्या से कही। वह बोली—"ऐसी अशुभ बात मुँह से नहीं निकालते। भाईजी कहीं-न-कहीं हैं जरूर।"

आज सबेरे चाय पीते वक्त सन्ध्या ने कहा—"देखो, मुझे ऐसा लगता है कि भाईजी कहीं काशी में ही हैं, तुम अच्छी तरह से ढूँढ़ नहीं सके। मेरी इच्छा है कि फिर एक बार जाकर तुम अच्छी तरह उनकी खोज-खबर लो।"

सन्ध्या के आग्रह से मैंने दूसरे ही दिन काशी जाने का निश्चय किया।

सन्ध्या ने कहा—"अगर भाईजी का कहीं पता लगे तो जैसे

बने उन्हें अपने साथ लेते आना, किसी तरह उन्हें छोड़ना मत।" कहते-कहते सन्ध्या की आँखें भर आयीं।

दो दिन बाद ही काशी आकर मैं बिनू दादा को ढूँढने का प्रयत्न करने लगा। परिचित-अपरिचित जिसको ही पाता, उसीसे बिनू दादा के बारे में पूछता; लेकिन कोई कुछ न बतला सका। एक अन्न-क्षेत्र के मैनेजर ने कहा—"दो-तीन महीना पहले एक शराबी एक लड़की के साथ आकर खा जाया करता था, अब बहुत दिनों से नहीं आया।"

इसी समय एक दिन तीसरे पहर नन्दी महाशय ने आकर खबर दी कि उन्होंने उसी दिन सबेरे बिनू दादा की तरह एक आदमी को देशी शराब की दूकान में बैठकर शराब पीते देखा था। पास जाकर नाम पूछने पर वह घूँसा तान कर नन्दी महाशय की ओर दौड़ा। नन्दी ने कहा—"पञ्चू बाबू, मुझे जरा भी सन्देह नहीं है कि वे बिनू बाबू ही थे! लेकिन ऐसे हो गये हैं कि पहचाने नहीं जाते, मैं ने तो उनके कान के नीचे वाले दाग से ही उनको पहचाना।"

उसी समय से लेकर रात को नौ बजे तक शहर में देशी-विलायती शराब की जितनी दूकानें थीं, सब में बिनू दादा को ढूँढ डाला, पर कहीं उनका कुछ पता न चला। थका-माँदा मैं घर लौट रहा था कि गोदौलिया के पास लोगों की भीड़ और हल्ला-गुल्ला सुनकर ठहर गया। एक आदमी से पूछने पर मालूम हुआ कि एक आदमी चोरी करते पकड़ा गया है, उसी को लोग मार

रहे हैं। काशी में चोर-पाकेटमारों की कमी नहीं यह सोचकर मैंने अपना रास्ता लिया। चलते-चलते उस आदमी ने कहा—"दो पाव रोटी चुराने के लिए इतना न मारना चाहिए था बेचारे को!"

"वह है कौन?"

"एक बङ्गाली शराबी है। उसे क्या इतना—।"

"बङ्गाली? शराबी?" पीछे लौटकर मैं दौड़ चला। भीड़ हटाकर जब अन्दर पहुँचा, उस समय भी उस पर दो-चार घूँसे पड़ जाते थे। उसके सामने जाकर देखा–"रे भगवान्! जो सोचा था वही हुआ, यह तो बिनू दादा ही हैं। हाय हाय! यह भी मुझे देखना पड़ा! मेरा माथा चक्कर खाने लगा। दूकानदार से मैंने पूछा–" "दो पाव रोटियों का तुम्हारा कितना दाम हुआ भाई?"

दूकानदार बकने लगा—"यह रोज ही चुरा ले जाता है—" "मैंने उसके हाथ में दो रुपये रख दिये। वह अवाक् होकर मेरी ओर देखता रहा!

तब बिनू दादा से मैंने कहा—"कहाँ रहते हो? मुझे अपने साथ ले चलो।" वे बड़बड़ाते हुए न-जाने क्या कहने लगे। मैं उनका हाथ जोर से पकड़े हुए रास्ता तय करने लगा।

एक सँकरी गली के एक गन्दे मकान के सामने आकर बिनू दादा ने दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोल कर अँधेरे में ही पद्मा ने मुझे पहचान लिया। सामने आकर कहा—"काकू!" उसे अपनी गोद में खींच लेकर मैंने कहा—"हाँ बेटी, कैसी हो?" उसने कुछ उत्तर न दिया। मेरी गोद में फूल-फूलकर रोने लगी।
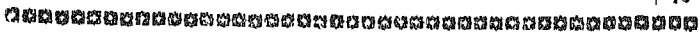
घर में मिट्टी के तेल की एक डिबिया जल रही थी। उसके क्षीण प्रकाश में मैंने देखा, जमीन पर एक ओर फटे चिथड़ों का बिछौना बिछा था, दूसरी ओर जस्ता के दो-चार बर्तन रक्खे थे, आम की लकड़ी का एक बक्स एक ओर पड़ा था, दूसरी ओर शराब की खाली बोतलें, मिट्टी के दो घड़े, एक जोड़ा फटा हुआ जूता, कई टूटी हुई चिलमें, एक हुक्क़ा, दो-चार फटे हुए कपड़े और एक टूटा हुआ शीशा रक्खा था। यही घर का सामान था। हाय बिनू दादा !

मैंने पद्मा से कहा—"सामने हलवाई की दूकान है। मैं जाकर कुछ खाना लाऊँ।"

पद्मा बोली—"बाबूजी की जेब देखूँ, वे शायद हम लोगों के लिए पाव रोटी लाये हों !" पद्मा की बात सुने बिना ही मैं बाहर जाकर खाना ले आया और उसे पद्मा के हाथ में देकर कहा—"बेटी, अपने बाबूजी को खिला, तू भी खाले और थोड़ा-सा मुझे दे दे। उसके बाद वह चटाई बिछा दे, मैं सोऊँ। तुम लोग भी खा-पीकर सोओ, फिर जो करना होगा, वह कल मैं करूँगा।"

दुःख, कष्ट और चिन्ता से उस रात को नींद न आ सकी। सन्तोष इसी बात का था कि बिनू दादा का पता इतने दिनों के बाद किसी तरह लगा सका हूँ; लेकिन बिनू दादा जान बूझकर क्यों इतनी तकलीफ़ उठा रहे हैं, यह मैं न समझ सका। पहले दो साल तक, बिनू दादा की इच्छा न होने पर भी, मैं उन्हें डेढ़-दो सौ रुपये महीना देता रहा, लेकिन इन तीन वर्षों से क्यों
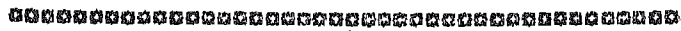
बिनू दादा भागे-भागे फिरते हैं, और क्यों अपनी कालीघाट की सम्पत्ति रहते हुए, हुए हम लोगों के रहते हुए भी, वे इच्छापूर्वक यह दरिद्रता भोग रहे है, यह किसी तरह मेरी समझ में न आया। उन्हें किस बात का दुःख है, किस बात पर अभिमान है, यही सब सोचते-सोचते रात के आखिरी पहरों में मुझे शायद नींद आगयी।

खुले हुए दरवाजे से सवेरे की धूप जब मेरे मुँह पर पड़ी तो मेरी नींद खुली। उस समय दिन चढ़ आया था। घर में किसी को न देखकर पद्मा का नाम लेकर मैंने कई बार पुकारा, लेकिन कोई उत्तर न मिला। समझते देर न लगी कि ज्ञान और शक्ति लौटते ही बिनू दादा फिर पद्मा को साथ लेकर भाग गये हैं। घर की एक दूसरी किरायेदारनी ने कहा—"बिटिया के बाबू आज तड़के ही बिटिया के साथ घर छोड़कर चले गये। इस महीने का किराया डेढ़ रुपया मुझे दे गये हैं।

कपड़ा पहनने जाकर देखा कि कोट की जेब में डेढ़ सौ रुपयों के जो नोट रक्खे थे, वे नहीं हैं। मन को थोड़ी सान्त्वना हुई कि कुछ दिनों तक रुपये के कारण बिनू दादा को तकलीफ़ न उठानी पड़ेगी।

उसी दिन सन्ध्या को सब बातें लिखकर एक पत्र भेजा। पत्र के अन्त में लिखा—"इस घटना से मेरा जी इतना खराब हो गया है कि अब कुछ दिनों तक इधर ही घूमकर तब वापस लौटूँगा और एक बार फिर बिनू दादा का पता लगाने की भरपूर चेष्टा करूँगा।"

[२५]

प्राय: तीन महीने तक पच्छिम के भिन्न-भिन्न शहरों में घूम-फिरकर वापस लौटते हुए एक दिन भागलपुर में उतर पड़ा। मेरे एक पुराने मित्र यहाँ डाक्टरी करते थे। उनसे मिलने के लिए ही मैं यहाँ रुक गया था।

दो दिन भागलपुर में यों ही बीत गये। तीसरे दिन सबेरे घूम-कर राजेन्द्र की डिस्पेन्सरी में बैठा अखबार पढ़ रहा था। राजेन्द्र ने पूछा—"आज तुम जाओगे ही?"

मैंने कहा—"हाँ भाई, घर छोड़े बहुत दिन हो गये; चित्त अस्थिर हो रहा है।"

"तो भाई साहब की कोई खबर-बबर न मिली?"

"न, बिनू दादा की आशा तो मैंने एकदम छोड़ दी है।"

"वे तो तुम्हारे ताऊ के लड़के थे न?"

"हाँ। तुमने देखा नहीं उन्हें?"

"एक बार देखा था शायद कलकत्ता में। खूब कसरत-कुश्ती करते थे, वही न?—क्यों जी, बोलते क्यों नहीं? ऐसे तल्लीन होकर क्या पढ़ रहे हो?"

"एक खबर पढ़ रहा हूँ भाई, दुनिया में कितना दुःख-कष्ट है! राजसाही के एक सज्जन बाल-बच्चों का पालन-पोषण न कर सकने के कारण आत्महत्या करके मर गये!"

"अरे भाई, दुःख-सुख तो लगा ही है। यहीं एक आदमी आज उस पेड़ के नीचे मर रहा है। अभागे को मरने की भी कहीं जगह न मिली।"

"विदेशी है क्या?"

"हाँ, दस-पन्द्रह दिन से आकर एक बनिये के घर में एक कमरा लेकर ठहरा था; लेकिन बनिया उसे अपने घर में नहीं मरने देगा। कल रात ही को उसने उसको घर से निकाल बाहर किया।"

इसी समय एक बीस-बाईस साल के लड़के ने आकर कहा—"डाक्टर साहब, आप कोई और दवा देंगे?"

अखबार मेज पर रखकर मैंने पूछा—"वह क्या इधर का ही है?"

"अजी नहीं, बङ्गाली है, तुम्हारी ही जाति का हरिहर मुकर्जी शायद उसका नाम है और घर है शान्तिपुर में।"

लड़के ने घबड़ाकर कहा—"तो आप और कोई दवा न देंगे?"

"अरे पागल हुए हो? अब दवा देकर क्या होगा?"

लड़का चला गया।

मैंने पूछा—"क्या हुआ था उसे?"

राजेन्द्र ने कहा—"जो शराबियों को होता है—बड़ा पियक्कड़ था।"

"उसके साथ और कोई है?"

"कोई होता तो ऐसी दुर्दशा होती? सिर्फ एक लड़की—"

मैं उठ खड़ा हुआ। पूछा—"क्या उम्र होगी?

"चौदह पन्द्रह साल की होगी। क्यों, तुम्हारी जान-पहचान का है क्या?"

रुँधे हुए गले से मैंने पूछा—"लड़की का नाम जानते हो ?"

"लड़की का नाम ? हाँ, जानता क्यों नहीं, उसका नाम, प–, अरे, यह क्या ! भाग क्यों चले ? हरिहर मुकर्जी को तुम जानते हो क्या ?"

राजेन्द्र की सब बातें मैं सुन नहीं सका। हाँफते-हाँफते उस तालाब वाले पेड़ की ओर दौड़ चला।

भीड़ हटाकर मैं अन्दर पहुँचा। मुझे देखते ही पद्मा जमीन पर लोटकर चिल्ला उठी—"काकू ! काकू !! बाबूजी, काकू आये हैं ! बाबूजी !"

सड़क के एक किनारे, एक सघन पेड़ की छाया में बिनू दादा की मृत्यु-शय्या के रूप में एक सड़ी हुई कथरी बिछायी गयी थी।

उस रविकरोज्वल प्रभात में मेरी आँखों के सामने सन्ध्या घनीभूत हो आयी। अभिभूत होकर मैं उसी बिछौने के एक किनारे बैठ गया। बिनू दादा ने आँखें मूँद रक्खी थीं। सहसा पद्मा की चिल्लाहट सुनकर उन्होंने आँख खोलकर मेरी ओर देखा। इशारे से मुझे पास बुलाया। उनमें बोलने की शक्ति नहीं थी, फिर भी अत्यन्त कष्ट से, धीरे से, अस्फुट स्वर में उन्होंने कहा—"भाई, इसीलिए शायद बचा हुआ था। उसके बाद वे थोड़ी देर तक अवसन्न पड़े रहे; फिर मेरी ओर देखकर इशारे से किसी का चित्र माँगा। पद्मा से मैंने कहा—"भाभी की कोई तस्वीर हो तो दे दो बिटिया, शायद वही माँग रहे हैं।"

पद्मा ने चिथड़ों में लिपटी हुई भाभी की एक तस्वीर लाकर

बिनू दादा को दी। उसे देखकर बिनू दादा ने मुँह बनाया, चुप-चाप बगल में रख दिया। विजड़ित कण्ठ से बड़े कष्ट से कहा—"देवता का, श्रीकृष्ण······"

मैंने लड़के की ओर देखकर कहा—"ला सकते हो भाई कहीं से ?" वह दौड़ गया और क्षणभर में राधाकृष्ण की एक युगल-मूर्ति की छोटी-सी तस्वीर ले आया। मैंने बिनू दादा के कान के पास मुँह लेजाकर पुकारा—"बिनू दादा !"

सिर्फ़ अन्तिम बार आँखें खोलकर बिनू दादा ने देखा और राधाकृष्ण की तस्वीर को दोनों हाथों से हृदय में छिपा लिया। फिर उन्होंने बोलने की चेष्टा की, लेकिन बोल न सके; दोनों ओठ थोड़े काँप उठे, मुँह में से थोड़ा फेन निकला और आँखों से निकल-कर आँसू के बूँद गाल की हड्डियों पर बह चले।

उसके बाद ?

अब क्या उसके बाद की भी कथा कहनी होगी ?—हाँ, जब यहाँ तक कहा है तो यह सब भी कहूँगा। हृदय फट जायगा, तब भी कहूँगा। यदि आज चिल्लाकर भी कहूँ—ओ जी, अब इच्छा नहीं है, इच्छा नहीं है अब कुछ कहने की हमारी शक्ति नहीं है, सामर्थ्य नहीं है, तो कौन मेरी बात का विश्वास करेगा ? सुतरां हृदय की हड्डी-हड्डी चूर हो जायगी, फिर भी मुझे उसके बाद की कथा कहनी होगी !

चौदह-पन्द्रह साल की लड़की का माथा दुःख-शोक से थोड़ी देर के लिए भी बिगड़ जा सकेगा, यह मुझे मालूम न था, लेकिन पद्मा की आँखें देखकर मुझे डर लगा। उन आँखों में एक बूँद

भी आँसू नहीं था। उसके शुष्क पलकहीन आँखों की उदास दृष्टि शून्य की ओर टकटकी लगाए हुए थीं। उस दृष्टि को देखकर मन में एक प्रकार के आतङ्क का भाव उत्पन्न होता था। आँखों के समान उसके शरीर में भी किसी प्रकार का स्पन्दन न होता था। जैसे उसके मन और शरीर पर शोक की छाया भी नहीं पड़ी।

थोड़ी देर के बाद एक दीर्घनिश्वास छोड़कर पद्मा हिल उठी। सहसा वह उठ खड़ी हुई और मेरे सामने आकर बोली—"तुम कौन हो जी,—ओ जी, तुम कौन हो जी?"

मैं कुछ कहने जा रहा था कि बीच ही में पद्मा बोल उठी—"गर नईं जाते? करी-बात नईं काते? ताकुर दस्सन नईं कत्ते? अरे ओ पञ्चू बाबू, तुम कैसे आदमी हो? अरे, उठो उठो, चलो चलो! (गाकर) चिड़ियाँ लगीं चहकने चह-चूँ, बीत गयी अब रात, बनमें कलियाँ लगीं चटकने, देखो हुआ प्रभात।"

मैंने जोर से उसका हाथ पकड़ लिया और डाँटकर पास बैठाना चाहा, वैसे ही वह चिल्लाकर रो पड़ी और बिनू दादा के शव पर लोट गयी। उसी समय दर्शकों में से एक वृद्ध ने दीर्घ-निश्वास लेकर कहा—"नारायण, श्री रामचन्द्र!"

मैं भी अपनी क़लम की अन्तिम रेखा के साथ-साथ उसीकी बात को प्रतिध्वनित करता हुआ कहता हूँ-"नारायण! नारायण! नारायण!"

समाप्त